UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182828

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी गद्य-साहित्य

साहित्यों ने वैविध्य और प्रौढ़ता प्राप्त की है। यह एक व्यापक स्मरणीय तथ्य है।

(२) विदेशी शासक-वर्ग, उच्चवर्गीय अंग्रेजी शिक्षा-सम्पन्न समाज और रूढ़िग्रस्त सामन्ती संस्कृति के हिमायती नाना प्रकार से इस विकास का विरोध करते रहे हैं। इस प्रकार हमारे देश की विभिन्न भाषाओं और उनके गद्य-साहित्यों का विकास देशी-विदेशी सत्ताधारी वर्गों की सतत उपेक्षा और अवहेलना के वातावरण में हुआ है। अंग्रेजों की नीति तो थी ही, अंग्रेजी पढ़े-लिखे उच्च-वर्गीय भारतीयों ने भी साधारणतः इस विकास को कभी पूर्ण सहानुभूति से नहीं देखा, जिससे अध्ययन-अध्यापन का कार्य मुख्यतः अंग्रेजी में ही चलता रहा। उच्च ज्ञान-विज्ञान, दर्शन-समाजशास्त्र आदि भी अंग्रेजी के माध्यम से ही पढ़ाए जाते रहे। इससे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही चिन्तन-मनन करने की परिपाटी चल पड़ी, क्योंकि ऐसा करना अधिक सुगम था। आर्थिक लाभ की दृष्टि से भी फर्राटे की अंग्रेजी बोल सकना, रिनेसांस (यूरोप का सांस्कृतिक नवजागरण) साहित्य या ग्रीक-कला के बात-बात पर उद्धरण देने की सहज क्षमता प्राप्त कर लेना—चाहे अपने देश के साहित्य, कला, संस्कृति का ज्ञान शून्य बराबर और अपनी मातृभाषा का काला अक्षर भैंस बराबर क्यों न हो—सर्व-गुण-सम्पन्नता का लक्षण समझा जाने लगा। उच्च सरकारी पदों के द्वार ऐसे ही सर्व-गुण-सम्पन्नों के लिए खुले रहे, आज भी हैं। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र रूप से दर्शन, समाज-विज्ञान, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा जीव-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, गणित आदि के मौलिक साहित्य का विकास हिन्दी में या किसी भी देशी भाषा में होना सम्भव न था। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य के ये अंग आज भी अनूदित, सम्पादित और संकलित साहित्य पर ही निर्भर हैं। मात्र हिन्दी का विद्यार्थी आधुनिक ज्ञान के विशाल क्षेत्र से वंचित रह जाता है और उसके संस्कार उस सीमा तक अधूरे ही रह जाते हैं। गद्य-साहित्य के विकास पर इस स्थिति का भी प्रभाव पड़ा है—शैली, शब्द-विन्यास, विचार-योजना आदि सभी पर। इससे गद्य की शक्ति कुण्ठित

हुई है, क्योंकि जो वैज्ञानिक विचार और शब्द अंग्रेजी पाठक के लिए सरल-सुबोध होते हैं, वही हिन्दी-पाठक के लिए दुर्बोध होते हैं। इसके अतिरिक्त इने-गिने अनुवादों को छोड़कर विश्व-साहित्य की सभी महान् कृतियों को अभी तक अंग्रेजी में ही पढ़ना पड़ता है, जिससे हमारे गद्य-साहित्य का उतना उन्मेष नहीं हो पाया जितना एक शताब्दी में सम्भव था। क्योंकि साधारण पाठकों की तरह हमारे साहित्यकारों को भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का संस्कार देने वाला वातावरण हिन्दी भाषा में नहीं मिलता, अतः यह भी स्मरणीय है कि हमारे गद्य-साहित्य का विकास किन और कितनी प्रतिकूल परिस्थितियों में हुआ है। स्पष्ट है कि अभी विश्व की अधिक उन्नत भाषाओं (अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, रूसी) के गद्य-साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न ही नहीं उठता। वस्तुतः अभी तक हमारा गद्य-साहित्य अपने प्रारम्भिक निर्माण की अवस्था में है। इस प्रारम्भिक अवस्था में भी यदि हिन्दी अनेक प्रतिभाओं के विकास का माध्यम बनी है (जिस प्रकार देश की अन्य भाषाएँ भी बनी है) तो यह तथ्य उन प्रतिभाओं की महानता का सूचक तो है ही, जिन्होंने अनगढ़ भाषा को गढ़-माँजकर उत्कृष्ट साहित्यिक अभिव्यक्ति का समर्थ वाहन बनाया, साथ ही यह हमारे राष्ट्रीय जागरण की व्यापक प्रेरणा का भी प्रतिफल है, जिसने सत्ताधारी वर्गों की उपेक्षा के मरुथल में उनकी प्रतिभा के अंकुर को मुरझाने नहीं दिया और उन्हें अपनी विपन्नावस्था में भी रचनाकार का आत्म-गौरव अनुभव करने का अवसर दिया।

इन तथ्यों को ध्यान में रखें तो हिन्दी के गद्य-साहित्य के विकास की रूपरेखा सहज ही समझ में आ सकती है और काल-विभाजन की समस्या को भी यथार्थ ढंग से सुलझाया जा सकता है। ऐतिहासिक संयोग और चारित्रिक विशेषता के आधार पर इस समूचे आधुनिक काल को, जब से हिन्दी गद्य-साहित्य का विकास हुआ है, 'राष्ट्रीय जागरण' का युग कहना ही उपयुक्त है। यह युग अभी तक समाप्त नहीं हुआ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में संवत् १९०० (सन् १८४३) से अब तक के साहित्यिक विकास को 'आधुनिक

काल' के अन्तर्गत परखा है, और इसके 'गद्य-खण्ड' को पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार भागो में इस प्रकार बाँटा है : संवत् १९०० से १९२५ (सन् १८४३-६८) तक 'गद्य-साहित्य का आविर्भाव'; संवत् १९२५ से १९५० (सन् १८६८-९३) तक 'आधुनिक गद्य-साहित्य-परम्परा का प्रवर्तन' अर्थात् 'प्रथम उत्थान'; संवत् १९५० से १९७५ (सन् १८९३-१९१८) तक 'गद्य-साहित्य का प्रसार' अर्थात् 'द्वितीय उत्थान'; और अन्त में संवत् १९७५ से आगे 'गद्य-साहित्य की वर्तमान गति' अर्थात् 'तृतीय उत्थान'। यह विभाजन कृत्रिम और स्वेच्छाचारी है और अधिक-से-अधिक गद्य-साहित्य के इतिवृत्त का परिचय पाने मे सहायक हो सकता है, उसके इतिहास को समझने में नही। 'उत्थानों' के चरण ठीक पच्चीस-पच्चीस वर्ष पर नियमित रूप से उठते-गिरते हैं, यह एक विचित्र कल्पना है। इस नियम से सन् १९४३ मे तृतीय उत्थान भी समाप्त हो गया—बिना किसी ऐतिहासिक घटना या विशिष्ट साहित्यिक विकास से सम्बद्ध हुए ही। अब चतुर्थ उत्थान को 'गद्य-साहित्य की वर्तमान गति' से आगे की स्थिति बताने के लिए शुक्लजी कौनसी नई अवस्था की अवधारणा करते ?

जिन लेखकों की कल्पना शुक्लजी द्वारा निर्धारित इन उत्थानो के सोपानो पर नहीं चढ़ पाई उन्होंने हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास को और भी स्वेच्छाचारी ढंग से 'भारतेन्दु-युग', 'द्विवेदी-युग', 'प्रसाद-युग' और 'वर्तमान-युग'—इन चार युगो में बाँट दिया। भारतेन्दु, द्विवेदी और प्रसाद तक तो इन विद्वानो को कोई-न-कोई ऐसा प्रचण्ड व्यक्तित्व मिलता गया जिसके नाम पर 'युग' का नामकरण किया जा सके, लेकिन प्रसाद के बाद यह भी सम्भव नही रहा और उन्हें व्यक्ति-युगो का आश्रय छोड़कर 'समसामयिकता' को ही युग मान लेना पड़ा। किन्तु इससे एक प्रथा चल पड़ी जिससे हिन्दी में व्यक्ति-केन्द्रित 'युगो' की बाढ़-सी आ गई है। कुछ के तो साहित्यिक व्यक्तित्वों की महिमा को स्वीकार करके इतिहास-लेखकों ने ही 'युग' अलग कर दिए, किन्तु कुछ ने इतिहास-लेखकों की अवहेलना से क्षुब्ध होकर या साहित्य में अपने कृतित्व और देन के आभार की स्वीकृति

मे विलम्ब होते देखकर स्वयं ही 'मैं और मेरा युग' लिखना शुरू कर दिया। हिन्दी का मुश्किल से एक शताब्दी का गद्य-साहित्य कितने 'युगो' का भार वहन कर सकेगा, यह तो हम नहीं कह सकते, लेकिन इतना अवश्य जानते है कि इस कृत्रिम युग-विभाजन से इतिहास के विद्यार्थी के सामने एक दुर्गम कठिनाई और उलझन अवश्य पैदा हो गई है। उसे हिन्दी मे लिखे गए निबन्ध, जीवन-चरित, उपन्यास, कहानी, नाटक, समालोचना, गद्य-गीत और पत्र-पत्रिकाओं के विकास का इतिहास इन चार युगो मे अलग-अलग बाँटकर पढ़ना पडता है। हिन्दी गद्य साहित्य के विभिन्न साहित्य-रूपो—उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि—का विकास एक अविच्छिन्न धारा के रूप मे देखना और उसके विकास और ह्रास की गति को समग्र रूप से परखना साधारण विद्यार्थी के लिए कठिन हो गया है! किसी प्रतिभावान् लेखक को केन्द्र मानकर उसके समकालीन साहित्य और साहित्य-कारो का अध्ययन करना लाभप्रद हो सकता है, लेकिन इतिहास की दृष्टि से यह विभाजन संगत नही है।

हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की सामान्य आवश्यकताओं के वशीभूत हमारे गद्यकारो ने (कवियो की ही तरह) जाने-अनजाने मे उसे व्यापक सास्कृतिक आधार देने के लिए अपनी-अपनी अनुभूति, संवेदना, रुचि, प्रतिभा, जीवन-दृष्टि और बाह्य वास्तविकता की चेतना के अनुरूप ही अलग-अलग शैलियो और दृष्टियो से युग-जीवन और उसकी बहुमुखी समस्याओ को साहित्यिक अभिव्यक्ति दी है। अतः शैलीगत, विषय-वस्तुगत या दृष्टि-कोणगत आधार पर हम चाहे कोरी साहित्यिक प्रवृत्तियो का निर्धारण कर ले जैसे कविता मे 'छायावाद', 'प्रगतिवाद', 'प्रतीकवाद' आदि, और उपन्यास-साहित्य मे 'यथार्थवाद', 'प्रकृतवाद' आदि, किन्तु यदि समग्र रूप से देखे तो गत शताब्दी का समूचा साहित्य एक ही युग की उपज है, उसके उतार-चढ़ाव, प्रगति-ह्रास सब एक ही युग के है, और यह आधुनिक युग 'राष्ट्रीय जागरण' का युग है। इसी कारण इस युग की मूलभूत समस्याएँ प्रकारान्तर से बहुत-कुछ एक-सी है।

हिन्दी गद्य-साहित्य के काल-विभाजन की समस्या का यह समाधान जिस प्रकार उसके इतिहास-लेखन को एकसूत्रता और तारतम्यता प्रदान कर सकता है, उसी प्रकार एक और भ्रम से उसकी रक्षा कर सकता है। इतिहास-ग्रन्थों मे या आधुनिक हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास का विस्तृत उल्लेख रहता है। यह उल्लेख कुछ इसी प्रकार का होता है जिस प्रकार शुक्लजी ने अपने इतिहास में प्रत्येक काल के यथासम्भव प्रत्येक कवि का नाम गिनाकर और उसकी कविताओं में से उद्धरण देकर किया है, अर्थात् प्रयत्न यह होता है कि हिन्दी में गद्य-साहित्य की रचना करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का नामोल्लेख उसमे हो जाय। विद्यार्थी को इस तरह एक क्रमबद्ध विवरण या इतिवृत्त तो प्राप्त हो जाता है या अधिक-से-अधिक आनुषंगिक रूप से लेखकों की शैली के सम्बन्ध में दी गई चलती-फिरती टिप्पणियो से यह धुँधला-सा आभास भी मिल जाता है कि अमुक लेखक की भाषा ओजपूर्ण है या प्रसादगुण-युक्त, उसकी शब्द-योजना और वाक्य-विन्यास सरल है या संश्लिष्ट, शैली विचार-प्रधान है या भावपूर्ण, दृष्टिकोण सामाजिक है या मनोवैज्ञानिक, लेकिन इससे उसकी कृतियों का मूल्यांकन नही हो पाता। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि इतिहास-लेखक पाठक को यह बताये कि वह किस लेखक को पढ़े और किसे न पढ़े, लेकिन साहित्य का प्रत्येक पाठक, चाहे वह किसी कृति को केवल मनोरंजन के लिए ही क्यो न पढ़ता हो, उससे अपने संस्कार और रुचि के अनुसार चेतन-अवचेतन रूप मे कुछ-न-कुछ 'मूल्य' अवश्य प्राप्त करता है। साहित्य के इतिहास-लेखक और आलोचक के कार्य की सार्थकता इसी में है कि वह पाठक की रुचियों का सामान्यतः परिमार्जन करे, उन्हें अधिक संवेदनशील, मार्मिक और मानवीय बनाए। यह कार्य साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन से ही सम्भव है, केवल तमाम मुद्रित पुस्तकों, लेखों और उनके लेखकों के नामों की विस्तृत सूची तैयार करने या लगे-हाथ शैलीगत विशेषताओं पर चलती-फिरती टिप्पणियाँ जड़ देने मात्र से नहीं। युग-जीवन की वास्तविकता का विविध ढंगों से लेखकों ने कितना मार्मिक

और कलात्मक, चित्रण किया है या अपनी रचनाओं में उन्होंने जीवन के व्यापक प्रश्नों को कितनी सचाई, शक्ति और तात्त्विक दृष्टि से समझा-समझाया है, पाठकों में इन मूल्यों को ग्रहण करने का संस्कार पैदा करना भी इतिहास-लेखक और आलोचक का कर्तव्य है। इसलिए विषय-वस्तु, दृष्टिकोण, शैली और रचना-तन्त्र—इन सभी का विवेचन और मूल्यांकन जरूरी है। विद्यार्थी के लिए इतिवृत्त से परिचित होना आवश्यक है, लेकिन यह इतिवृत्त 'साहित्य' का होना चाहिए, न कि गद्य के रूप में छपी हुई सामग्री का। नामों का बहीखाता खोल देना जरूरी नहीं है, बल्कि हिन्दी के गद्य में जितना 'साहित्य' है, जिसमें अपेक्षया स्थायित्व के तत्त्व है और जिन लेखकों ने ऐसी कृतियों की रचना से साहित्य और युग-जीवन को प्रगति दी है, केवल उनका उल्लेख ही जरूरी है।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने विवेचन का यही ढंग अपनाया है, यद्यपि गद्य-साहित्य के विद्यार्थियों को उसके विकास का इतिवृत्त भी मिल जाय, इसका भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है।

—शिवदानसिंह चौहान
—विजय चौहान

सूची

प्रस्तावना

१. राष्ट्रीय जागरण से पूर्व
गद्य साहित्य की अवस्था --- --- --- १

२. राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि --- --- --- १५

३. हिन्दी नाटक --- --- --- --- २५

४. हिन्दी उपन्यास --- --- --- --- ४८

५. हिन्दी कहानी --- --- --- --- ७७

६. हिन्दी निबन्ध --- --- --- --- ९७

७. हिन्दी आलोचना --- --- --- --- ११०

१

राष्ट्रीय जागरण से पूर्व गद्य-साहित्य की अवस्था

हिन्दी गद्य-साहित्य से साधारणतः खड़ीबोली हिन्दी का गद्य-साहित्य ही अभिप्रेत होता है, क्योंकि लगभग एक शताब्दी से खड़ीबोली हिन्दी में ही गद्य-साहित्य की अखण्ड रचना होती आ रही है। ब्रज, अवधी, राजस्थानी या मैथिली में, जो मध्य-युग में समय-समय पर हिन्दी के काव्य-साहित्य की प्रधान भाषाएँ रह चुकी हैं, स्वतन्त्र रूप से गद्य साहित्य का विकास नहीं हुआ है। इसके ऐतिहासिक कारण हैं जिन पर हम यथास्थान विचार करेंगे।

राष्ट्रीय जागरण से पूर्व गद्य लिखने की परिपाटी का विशेष प्रचलन न था। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हमारे देश में गद्य-लेखन की कोई परम्परा थी ही नहीं। मनुष्य अनादि काल से पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए गद्य का ही प्रयोग करता आया है, और साधारण बोलचाल के गद्य में भी शैली और व्यंजना के वे सभी तत्त्व अपने मूल रूप में निहित रहते हैं जिनके लिखित और व्यवस्थित स्वरूप को हम साहित्यिक गद्य कहते हैं। फिर भी अनेक ऐतिहासिक कारणों से प्राचीन काल का लिखित साहित्य अधिकांशतः पद्य-बद्ध ही मिलता है। प्राचीन काल में गद्य-साहित्य की प्रचुर रचना तो केवल ऐसे स्वर्ण-युगों में ही हुई है जब तत्कालीन मानव-समाज अपेक्षया अधिक समृद्ध और सामंजस्यपूर्ण रहा है तथा जब उसका सर्वांगीण सांस्कृतिक उत्थान भी अपने अन्यतम शिखर तक पहुँच गया है, जिससे शिक्षा का प्रसार साधारण जनों तक हो सका है। किन्तु सांस्कृतिक ह्रास के युगों में सामान्य जनों को जिस तरह अन्य बातों के साथ शिक्षा और ज्ञान प्राप्त

करने की सुविधाएँ दुर्लभ रही हैं, उसी प्रकार मनुष्य की स्मृति और श्रुति-परम्परा के लिए अपनी लोकवार्ता में परम्परागत कथाओं और आख्यायिकाओं के अतिरिक्त और किसी प्रकार की गद्य-रचनाओं की अभिनव सृष्टि करने या सुरक्षित रखने की शक्ति का भी अभाव रहा है। भौतिक समृद्धि, सभ्यता और संस्कृति के ऐसे ही प्राचीन युगों में वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पाली और ग्रीक साहित्यों का निर्माण हुआ और उनमें श्रेष्ठ साहित्यिक गद्य की रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलती है। लेकिन भारतीय इतिहास के मध्य-युगों में जब सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की एकता छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और विशेषकर जब अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास-क्रम अभी जारी था, साहित्य की परम्परा प्रधानतः पद्य में ही चली।

इसीलिए आधुनिक युग या राष्ट्रीय जागरण से पूर्व राजस्थानी, ब्रज अथवा खड़ीबोली में जो टूटे-फूटे गद्य के उदाहरण हमें मिलते है, उन्हें हम अपने साहित्य के इतिवृत्त को काल-अवधि का लम्बा विस्तार देने की दृष्टि से चाहे महत्त्व दे लें, किन्तु वास्तव में उनका साहित्यिक मूल्य नगण्य है। अतः साहित्य के विद्यार्थी के लिए यह गम्भीर और सांगोपांग विवेचन का विषय नहीं है कि प्रारम्भ में चार सौ वर्षों तक (सन् ९४५–१३४५) जब पश्चिमोत्तर की उथल-पुथल के कारण नागर तथा आवन्ती अपभ्रंशों से राजस्थानी भाषा का सम्यक् विकास हुआ और डिंगल (अपभ्रंश-मिश्रित राजस्थानी) सर्वप्रथम काव्य-साहित्य की भाषा बनी तो उसमें ही भक्ति और वीर-काव्य के साथ-साथ अनेक राजस्थानी लेखकों ने, विशेषकर चारण-भाटों ने, धर्म, नीति, इतिहास, छन्दशास्त्र, शालिहोत्र, वृष्टि-विज्ञान आदि विषयों पर गद्य-पद्य दोनों में रचनाएँ की या बाद में प्रारम्भिक राजस्थानी-मिश्रित ब्रजभाषा (पिंगल) में भी नैतिक, पौराणिक, ऐतिहासिक विषयों पर कतिपय रचनाएँ मिलती हैं और जैन धर्म-ग्रन्थों में हमें राजस्थानी-मिश्रित गद्य के दर्शन होते हैं। साथ ही, इस प्रसंग में यह विषय भी गम्भीर विवेचन का नहीं है कि सन् १३४५ के पश्चात् जब साहित्य की प्रधान भाषा ब्रज बनी तो उसमें भी अनेक रचनाएँ गद्य में हुईं। उनका

उल्लेख-मात्र पर्याप्त है, क्योंकि न भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से और न शैली, रचना-तन्त्र और विषय-वस्तु की दृष्टि से ही ये गद्य-रचनाएँ साहित्यिक महत्त्व की हैं। व्रज लगभग पाँच सौ वर्ष तक उत्तर भारत के साहित्य की भाषा रही। इस बीच सहस्रों काव्य-ग्रन्थों की रचना हुई, लेकिन जो गद्य-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनकी संख्या एक-दो दर्जन से अधिक नहीं है। ऐसी स्थिति में गद्य-साहित्य के विविध रूपों के विकास का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

फिर भी, व्रजभाषा की गद्य-पुस्तकों की रचना का इतिवृत्त इस प्रकार है। सन् १३५० के लगभग सम्भवतः किसी राजस्थानी लेखक ने हठयोग और ब्रह्मज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली तीन गोरखपन्थी पुस्तकें गद्य में लिखीं—'गोरख गणेश गोष्टी', 'महादेव गोरख संवाद' और 'गोरखनाथ जी की सत्रह कला'। इसके पश्चात् भक्ति-काल में कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्तर्गत ई० सन् की सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ ने 'शृंगार रस मण्डन' लिखी और ई० की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में गोसाईं गोकुलनाथ या उनके किसी शिष्य ने दो पुस्तकें 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' लिखीं जिनमें वैष्णव भक्तों और उनके आचार्यजी की महिमा की कथाएँ हैं। इनकी भाषा अपेक्षया अधिक परिष्कृत, व्यवस्थित और चलती हुई है। उन्हीं दिनों सन् १६०३ के लगभग नाभादास जी ने भगवान् राम की दिनचर्या 'अष्ट-याम' के नाम से लिखी और इसके बीस वर्ष पश्चात् ओरछा नरेश जसवन्त-सिंह के दरबारी बैकुण्ठमणि ने 'अगहन माहात्म्य' और 'वैशाख माहात्म्य' नाम से दो छोटी-छोटी पुस्तकें रचीं। फिर हमें ईसवी की अठारहवीं सदी के प्रारम्भ की दो कृतियाँ मिलती हैं। दोनों संस्कृत की कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। सन् १७०३ के लगभग किसी अज्ञात लेखक ने 'नासिकेतो-पाख्यान' और सन् १७१० के लगभग सूरति मिश्र ने 'बैताल पचीसी' लिखी, बाद में जिसको लल्लूलाल ने खड़ी बोली हिन्दुस्तानी में रूपा-न्तरित किया। सन् १७९५ में जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह की आज्ञा से

लाला हीरालाल ने 'आईने अकबरी की भाषा वचनिका' नाम से एक बड़ी पुस्तक लिखी। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य में यदि और कोई पुस्तके मिलती है तो वे अठारहवी-उन्नीसवी शताब्दियो मे संस्कृत की 'इत्थमरः' और 'कथं भूतम्' वाली पद्धतियो पर लिखी गई। 'शृंगार-शतक', 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया', 'रसिक प्रिया', 'बिहारी 'सतसई' आदि काव्यो की टीकाएँ हैं, जो न गद्य-शैली की दृष्टि से और न विवेचन की दृष्टि से ही उपयुक्त है। उनकी भाषा तो और भी अनगढ़ और भद्दी है।

ब्रजभाषा के समान ही दिल्ली और मेरठ के आसपास बोली जाने वाली खड़ीबोली भी एक प्राचीन प्रादेशिक भाषा है। दसवी शताब्दी के लगभग या उसके पूर्व ही हिन्दी की अन्य बोलियों के समान खड़ीबोली भी अपभ्रंश से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप मे आने लगी थी। हिन्दी के इतिहासकारो ने अब तक यह दिखाने की चेष्टा की है कि यद्यपि मध्य-युगीन काव्य के क्षेत्र मे राजस्थानी, अवधी या विशेष रूप से ब्रजभाषा का आधिपत्य रहा है, फिर भी साहित्य मे खड़ीबोली का प्रयोग भी ग्यारहवी शताब्दी से होता आया है, जिससे साधारण बोलचाल की भाषा के रूप में उसके अस्तित्व और धीरे-धीरे समस्त उत्तर भारत के शिष्ट-जनो की भाषा के रूप मे उसके प्रसार का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार उन्होने जैन विद्वान हेमचन्द्र सुरि (सन् १०९३-११४२ ई०) के व्याकरण-ग्रन्थ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन', कवि नरपति नाल्ह के 'बीसलदेवरासो' (सन् ११५५ ई०) अमीर खुसरो की खड़ीबोली मे लिखी कुछ पहेलियो और पद्य-रचनाओ तथा सन्त कबीरदास (सन् १३९९-१५१८ ई०) की साखियो और पदों में से यत्र-तत्र पाई जाने वाली खड़ीबोली की आकारान्त प्रवृत्ति, शब्द और विन्यास की मिसाले खोजकर खड़ीबोली के अस्तित्व के प्रमाण दिये हैं। परन्तु इससे उपरोक्त स्वयंसिद्धि को उदाहरणो द्वारा सिद्ध करने के अतिरिक्त हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास पर कोई विशेष प्रकाश नही पड़ता। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे ठीक ही लिखा है कि "किसी भाषा का साहित्य मे व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नही है कि उसका अस्तित्व

नहीं है। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ीबोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है।...'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास)

प्रस्तुत प्रसंग में तो खड़ीबोली के प्राचीन अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए लम्बे-चौड़े हाथ-पैर मारने की कोशिश यों भी संगत नहीं है। हम पहले बता चुके हैं कि हिन्दी का गद्य-साहित्य आधुनिक युग या राष्ट्रीय जागरण काल की पैदावार है। इससे पूर्व खड़ीबोली मे भी कतिपय गद्य-रचनाएँ हुई थी, लेकिन उनसे न यह प्रमाणित किया जा सकता है कि खड़ीबोली हिन्दी धीरे-धीरे समस्त उत्तर भारत मे शिष्ट-जनो की भाषा बनती जा रही थी और न ही यह प्रमाणित किया जा सकता है कि गद्य-साहित्य के विकास के लिए वह ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिल आदि हिन्दी की अन्य बोलियों की तुलना मे अधिक उपयुक्त थी, जिसके कारण आगे चलकर उसमें ही गद्य-साहित्य का विकास हुआ है। मनुष्य की कोई भी भाषा ऊँचे-से-ऊँचे गद्य-साहित्य के लिए उपयुक्त हो सकती है, अर्थात् उसमे ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान-विज्ञान और विचार को कलात्मक अथवा तथ्य-निरूपिणी अभिव्यक्ति का माध्यम बनने की सामर्थ्य पैदा हो सकती है। इसलिए खड़ीबोली किसी आन्तरिक श्रेष्ठता और सहज गुण-सम्पन्नता के कारण आधुनिक-युग में ब्रजभाषा को पीछे छोड़कर गद्य और पद्य की भाषा नही बनी और न इस कारण ही कि जब हिन्दी में गद्य-साहित्य का विकास हुआ उस समय ब्रजभाषा मे गद्य-साहित्य की परम्परा नगण्य थी। यह नगण्यता तो खड़ीबोली मे भी थी, बल्कि ब्रजभाषा के गद्य से कुछ ज्यादा ही। अतः यदि आगे चलकर खड़ीबोली हिन्दी गद्य-साहित्य के विकास का माध्यम बनी तो इसके कारण ऐतिहासिक थे, जिनके संयोग से उस समय ऐसा होना ही सम्भव था।

आधुनिक काल से पूर्व खड़ीबोली मे गद्य की रचनाएँ कभी-कभी ही हुई। ऐसी फुटकर रचनाओं में अकबर-दरबार के गंग कवि 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है, क्योंकि सन् १५७० ई० में ब्रज-

मिश्रित खड़ीबोली में लिखी इस पुस्तक से ही हिन्दी-गद्य का श्रीगणेश माना जाता है। इसके पश्चात् एक लम्बे समय तक खड़ीबोली गद्य की और कोई पुस्तक नहीं मिलती। उत्तर-मध्य-युग में पहुँचकर एक लेखक रामप्रसाद निरंजनी मिलते हैं, जिन्होंने सन् १७४१ में 'भाषा योग वाशिष्ठ' नाम का गद्य-ग्रन्थ लिखा। इसकी भाषा परिमार्जित और सुष्टु खड़ीबोली है। इससे यह परिणाम निकाल लेना असामयिक होगा कि उस समय तक खड़ीबोली में परिष्कृत गद्य लिखा जाने लगा था, क्योंकि इनके पश्चात् सन् १७६१ में पण्डित दौलतराम ने हरिषेणाचार्यकृत जैन 'पद्म पुराण' का जो भाषानुवाद किया, उसकी भाषा त्रुटिपूर्ण और अपरिमार्जित है। और सन् १८३०-४० ई० के बीच किसी अज्ञात राजस्थानी लेखक की लिखी पुस्तक 'मण्डोवर का वर्णन' में 'अवल', 'सबब', 'जगे', 'लफज़' आदि उर्दू-फारसी के शब्दों की बहुतायत तो है ही, हिन्दी शब्दों का उच्चारण भी कहीं-कहीं खड़ीबोली का नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि खड़ीबोली गद्य की कोई परम्परा उस समय तक चल चुकी होगी और भाषा का परिमार्जन हो चुका होगा, ऐसा सोचना असामयिक होगा। चूँकि कतिपय ऐतिहासिक कारणों से खड़ीबोली उत्तर से दक्षिण तक शिष्ट-जनों में तथा राज्य-व्यवस्था के सम्पर्क में आने वाले लोगों में बोली जाने लगी थी, इसलिए उसमें लिखने वालों की वह मातृ-भाषा ही रही हो, सो बात नहीं है। पण्डित दौलतराम बसवा मध्य-प्रदेश के रहने वाले थे और 'मण्डोवर का वर्णन' का अज्ञात रचयिता राजस्थान का। इसलिए, जैसा आज भी होता है, जिनकी मातृभाषा खड़ीबोली नहीं है, यदि वे हिन्दी में लिखते हैं तो उनकी भाषा में स्थानीय पुट अक्सर आ जाती है। सम्भव है कि रामप्रसाद 'निरंजनी' खड़ीबोली क्षेत्र के ही निवासी हों। हमें केवल इतना ज्ञात है कि वे पटियाला दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। सम्भव है कि इस बीच खड़ीबोली क्षेत्र में भी कुछ गद्य-रचनाएँ हुई हों, परन्तु इस दिशा में अभी तक विद्वानों ने बहुत कम खोज-कार्य किया है।

इसके उपरान्त मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़', इंशा अल्ला खाँ, लल्लू-

लाल और सदल मिश्र के नाम आते हैं। हिन्दी गद्य-साहित्य की सुसंबद्ध परम्परा का सूत्रपात होने से कुछ पहले के ही ये लेखक हैं। हम इन्हें आधुनिक युग के पूर्वगामी कह सकते हैं, लेकिन आधुनिक युग के अन्तर्गत नहीं रख सकते।

मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से उस समय तक खड़ीबोली में उसकी परम्परागत हिन्दी शैली के अतिरिक्त एक फारसी-मिश्रित उर्दू शैली का विकास भी हो चुका था, और खड़ीबोली के ये दोनों रूप समस्त उत्तर भारत में शिष्ट-जनों में प्रचलित हो चुके थे। अतः अपनी राजकीय आवश्यकताओं से जब अंग्रेजों को यहाँ की भाषाएँ सीखने-सिखाने की जरूरत पड़ी तो सन् १८०३ में फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी-उर्दू अध्यापक जॉन गिलक्राइस्ट ने हिन्दी और उर्दू दोनों में ही गद्य-पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की।

इसके दो-एक वर्ष पूर्व ही मुंशी सदासुखलाल नियाज़ (सन् १७४६-१८२४) ने, जो दिल्ली के निवासी थे और कम्पनी की नौकरी करते थे, तथा जिन्होंने उर्दू-फारसी में कई पुस्तकें भी लिखी थीं और शायरी भी की थी, हिन्दी में श्रीमद्भागवत का 'सुख-सागर' के नाम से स्वतन्त्र अनुवाद किया। इसका गद्य वैसा ही परिमार्जित और व्यवस्थित है जैसा 'योगवाशिष्ठ' का, केवल यत्र-तत्र पण्डिताऊ प्रयोग मिलते हैं, जैसे 'बात होय', 'हेतु' आदि।

इन्हीं दिनों उर्दू के प्रसिद्ध शायर इंशा अल्ला खाँ ने सन् १७६८-१८०३ के बीच 'उदयभान-चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। इंशा यद्यपि मुर्शिदाबाद में पैदा हुए थे, किन्तु बाद में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मारे जाने से अन्धेरगर्दी मचने पर आप दिल्ली आकर सम्राट् शाहआलम द्वितीय के दरबार में रहने लगे। बाद में यहाँ की स्थिति भी खराब हो जाने पर आपको लखनऊ जाना पड़ा। वहाँ नवाब सआदत अलीखाँ के दरबार में कुछ दिनों आपकी बड़ी प्रतिष्ठा रही। इनकी 'रानी केतकी की कहानी' एक अपूर्व आयोजन है। यह हिन्दी-गद्य की पहली

मौलिक रचना है। इंशा की भाषा फड़कती हुई, मुहावरेदार और विनोदपूर्ण है; उसमें सानुप्रास विराम की छटा भी खूब देखने में आती है, जैसी बाद में आग़ा हश्र काश्मीरी के नाटकों में मिलती है। इंशा ने अरबी-फारसी, अवधी, ब्रज और संस्कृत इन सभी प्रकार की भाषाओं के शब्दों से दामन बचाकर ठेठ खड़ीबोली में अपनी कहानी को लिखने का प्रयत्न किया है, किन्तु फिर भी फारसी ढंग के वाक्य-विन्यास का प्रभाव है, जिसमें हिन्दी के कर्ता-कर्म-क्रिया के क्रम में उलट-फेर हो जाता है, इंशा की गद्य-शैली पर भी लक्षित है। उनकी भाषा में ऐसे और भी अनेक दोष या बाह्य प्रभाव दिखाये जा सकते हैं, लेकिन इससे उनकी रचना का महत्त्व कम नहीं होता। गद्य में मुहावरों का ऐसा प्रांजल और चलता प्रयोग उनके पूर्ववर्ती किसी लेखक ने नहीं किया था और न किसी ने हिन्दी-गद्य में इस कोटि की मौलिक रचना ही दी थी।

अंग्रेजों के आदेश से लल्लूलाल और सदल मिश्र ने जो रचनाएँ प्रस्तुत की उनमें अनुवाद ही अधिक हैं। वास्तव में इनमें से कोई मौलिक लेखक न था और न उनकी मातृभाषा ही खड़ीबोली थी।

लल्लूलाल (सन् १७६३-१८२५) आगरे के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। फोर्ट विलियम कालेज में नियुक्ति होने पर इन्होंने भागवत के दशमस्कन्ध की कथा को लेकर 'प्रेम सागर' नाम की पुस्तक लिखी। इसका मुख्य आधार दशम स्कन्ध का चतुर्भुजदासकृत ब्रजभाषा पद्यानुवाद है, जिससे 'प्रेमसागर' की भाषा पर ब्रजभाषा का यथेष्ट प्रभाव दिखाई देता है। शैली कथावाचकों-जैसी है, भाषा अनियंत्रित और अव्यवस्थित है, वाक्यों में कहीं क्रमबद्धता का अभाव है और अत्यधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। परन्तु 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शकुन्तला-नाटक' और 'माधोनल' के अनुवाद में उन्होंने हिंदुस्तानी भाषा का प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त ब्रजभाषा गद्य में इन्होंने 'राजनीति' के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ भी लिखीं।

बिहार-निवासी सदल मिश्र भी फोर्टविलियम कालेज में काम करते थे।

इन्होंने भी सन् १८६३ मे 'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' खड़ीबोली गद्य मे लिखा। लल्लूलाल की अपेक्षा इनकी भाषा अधिक व्यावहारिक और मुहावरेदार है, किन्तु फिर भी साफ-सुथरी नही कही जा सकती। उसमे व्रज-भाषा के रूप और पूरबी बोली के शब्दों का प्रयोग भी यत्र-तत्र काफी हुआ है। शैली सुगठित और एक-सी नही हो पाई। इस प्रकार हम देखते है कि अंग्रेजो के आदेश पर जिस गद्य की रचना हुई, उससे अधिक सुथरा गद्य मुंशी सदासुखलाल और इंशा अल्ला खाँ प्रस्तुत कर चुके थे।

सन् १८०३ से लेकर सन् १८५७ के भारतीय विद्रोह तक गद्य-साहित्य की कोई उल्लेखनीय रचना सामने नही आई। यों इस बीच कुछ छापेखानों की स्थापना हो गई, कतिपय पत्र भी प्रकाशित होने लगे और धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलनो का आविर्भाव भी हुआ, लेकिन गद्य-साहित्य की अखण्ड परम्परा सन् ५७ के बाद भारतेन्दु से ही शुरू हुई।

ईसाइयो ने अपने धर्म के व्यापक प्रचार के लिए बाइबिल का अनुवाद हिन्दी मे कराया। उस समय सिरामपुर ईसाइयों का अड्डा था। विलियम केरे ने, जो सन् १७९३ मे हिन्दुस्तान आये थे, सबसे पहले बँगला में बाइबिल का अनुवाद किया, उसके बाद उन्होने सन् १८०९ मे 'नये धर्म-नियम' के नाम से इञ्जील का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। उन्होने मुन्शी सदासुखलाल की भाषा को ही आदर्श माना। अरबी-फारसी के शब्दों के स्थान पर उन्होने ठेट देशी शब्दों का प्रयोग करना ही उपयुक्त समझा। इसके बाद ईसाइयों की पुस्तके और पैम्फलेट देश की अन्य भाषाओ की तरह हिन्दी मे भी लगातार निकलते रहे। अंग्रेजी की शिक्षा के लिए इन दिनों अनेक स्थानों पर स्कूल खुलने लगे थे और ईसाइयों ने भी अपने छोटे मोटे मिशन स्कूल खोलने शुरू कर दिए थे, जिससे शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तको की आवश्यकता पैदा हो गई थी। इस माँग की पूर्ति के लिए पादरियों ने आगरे में सन् १८३३ ई० के लगभग 'स्कूल बुक सोसायटी' कायम की। इस सोसायटी की ओर से पं० रतनलाल ने सन् १८३६ मे मार्शमैन कृत इंगलैण्ड के इतिहास का अनुवाद 'कथासार' के नाम से किया और

सन् १८४० में पं० ओंकार भट्ट ने 'भूगोल सार' तथा पं० बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' पुस्तकें लिखीं।

इसी समय जब कलकत्ता से अंग्रेजी और बँगला के पत्र प्रकाशित होने लगे तो कानपुर के पं० जुगलकिशोर ने सन् १८३६ में हिन्दी का पहला साप्ताहिक समाचार पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' निकाला, जो आर्थिक सहायता के अभाव मे एक ही वर्ष चलकर बन्द हो गया।

मेकाले के ज़ोर देने पर कम्पनी ने सन् १८३५ में ही अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया था तथा यत्र-तत्र अंग्रेजी के स्कूल खुलने लगे थे। अब प्रश्न अदालती भाषा का उठा। मुगल बादशाहों के समय से फ़ारसी ही अदालतों की भाषा चली आती थी। अंग्रेजों ने भी प्रारम्भ मे इस परम्परा को ज्यों-का-त्यों चलने दिया, लेकिन सन् १८३६ में कम्पनी-सरकार ने आज्ञा जारी की कि सारा अदालती काम देश की प्रचलित भाषाओं मे हुआ करे। इस आज्ञा के इश्तहारमे हिन्दी लिपि मे भी जारी हुए, और संयुक्तप्रान्त आदि मे सरकार ने 'हिन्दी बोली' को ही अदालतों की भाषा स्वीकार किया। परन्तु कम्पनी-सरकार इस नीति पर बहुत दिनों तक दृढ़ न रही और एक वर्ष बाद ही (सन् १८३७ ई०) उत्तरी भारत के सब दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी गई। आगे चलकर सर सैयद अहमदखाँ और फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा द तासी आदि के हिन्दी-विरोध के कारण अंग्रेजी सरकार का पक्षपात उर्दू के प्रति बढ़ने लगा।

इसकी प्रतिक्रिया भी हुई। राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी के पक्षधर बनकर सामने आये। शिक्षा-विभाग में इन्स-पेक्टर होने से पूर्व ही राजा शिवप्रसाद ने सन् १८४५ ई० मे काशी से 'बनारस अखबार' निकालना शुरू किया था, जिसकी भाषा में उर्दू का पुट रहता था। इन्ही के प्रयत्नों से कम्पनी-सरकार को स्कूलों मे हिन्दी की शिक्षा को स्थान देना पड़ा। राजा शिवप्रसाद ने पं० वंशीधर, श्रीलाल, बद्रीलाल आदि से पाठ्य-क्रम के लिए हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखवाईं। इनमे इतिहास, अर्थशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि की पाठ्य-पुस्तकें भी थी।

इन्हीं दिनों बाबू तारामोहन मित्र ने काशी से सन् १८४० में 'सुधाकर' पत्र निकाला। इसके दो वर्ष बाद किसी मुंशी सदासुखलाल ने आगरे से 'बुद्धिप्रकाश' नाम का पत्र प्रकाशित किया जो कई वर्षों तक चलता रहा।

राजा लक्ष्मणसिंह राजा शिवप्रसाद की गद्य-शैली के विरोधी थे। उन्होंने राजा साहब की कड़ी आलोचना की। वह मानते थे कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं और किसी भी कृत्रिम ढंग से उन्हें एक बनाने की कोशिश करना व्यर्थ है। स्वयं अपने लिए उन्होंने मुंशी सदासुखलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना। उन्होंने परम्परागत रस-सिद्ध, सरल और सुबोध हिन्दी भाषा का ही प्रचार करने के उद्देश्य से सन् १८६१ में आगरे से 'प्रजा-हितैषी' नाम का पत्र निकाला और कालिदास के 'रघुवंश' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद किया। उन्होंने अपनी भाषा में जान-बूझकर विदेशी, विशेषकर उर्दू शब्दों का प्रयोग नहीं होने दिया तथा देशज शब्दों का भी बहिष्कार किया, जिससे भाषा कहीं-कहीं कृत्रिम हो गई।

राजा शिवप्रसाद और बाद में राजा लक्ष्मणसिंह के उद्योग से हिन्दी का कार्य जिस प्रकार संयुक्तप्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में चलने लगा था, उसी प्रकार पंजाब में इनके समकालीन बाबू नवीनचन्द्र राय ने समाज-सुधार और हिन्दी-शिक्षा का कार्य आरम्भ किया। नवीनचन्द्र राय ने ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए हिन्दी में समय-समय पर कई पत्रिकाएँ निकालीं और सन् १८६३-८० ई० के बीच उन्होंने शुद्ध हिन्दी में भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक पुस्तकें भी लिखीं जो वर्षों तक कोर्स में पढ़ाई जाती रहीं।

नवीनचन्द्र राय से प्रेरणा लेकर पंजाब के प्राच्य महाविद्यालय के अध्यापक पण्डित सुखदयालु शास्त्री ने 'न्यायबोधिनी' पुस्तक लिखी। लेकिन इस बीच पंजाब में सबसे प्रतिभावान गद्य-लेखक पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी हुए हैं, जिनके व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब-भर में सन् १८५३ के लगभग ही मच गई थी। श्रद्धाराम फिल्लौरी संस्कृत-साहित्य के प्रकाण्ड

विद्वान् थे और पजाब के नगरों और गाँवों में घूम-घूमकर व्याख्यान, उपदेश और रामायण-महाभारत की कथाएँ सुनाते फिरते थे। वह पंजाबी और उर्दू में भी लिखते थे, लेकिन अपनी मुख्य पुस्तकें उन्होंने हिन्दी में ही लिखी। उनकी अत्यन्त प्रौढ़ भाषा में लिखी सिद्धान्त-पुस्तक 'सत्यामृत-प्रवाह' में धर्म-सम्बन्धी विषयों में भी उनकी स्वतन्त्र विचारणा के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके व्याख्यानों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए। उन्होंने 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास (सन् १८७६) भी लिखा, जो उन दिनो काफी प्रशंसित हुआ।

ईसाइयों के व्यापक और संगठित धर्म-प्रचार की प्रतिक्रिया भी इस बीच शुरू हो चली थी। ईसाई धर्म-प्रचारक हिन्दू-धर्म के बाह्याडम्बर और कर्मकाण्ड, बहुदेवोपासना, वर्णाश्रम-व्यवस्था और हिन्दू-समाज की कुरीतियों को अपना निशाना बनाकर खण्डन-मण्डन चलाते आ रहे थे। इसका प्रभाव हिन्दुओं पर भी पड़ने लगा था और लोग काफ़ी संख्या में ईसाई-धर्म की ओर झुकने लगे थे। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए बंगाल के राजा राममोहन राय उपनिषद् और वेदान्त का ब्रह्मज्ञान लेकर उठ खड़े हुए। उन्होंने मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, जाति-पाँति, छुआछूत को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना के प्रचार के लिए 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की और सन् १८१५ में वेदान्त सूत्रों के भाष्य का हिन्दी-अनुवाद करके प्रकाशित कराया। सन् १८१६ में उन्होने 'बगदूत' नाम का एक हिन्दी संवाद-पत्र भी निकाला।

आगे चलकर ईसाई धर्म-प्रचार के विरुद्ध उत्तर भारत में भी प्रतिक्रिया हुई और स्वामी दयानन्द ने वैदिक धर्म की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित किया। आर्यसमाजियों ने हिन्दी को आर्य-भाषा और भारतवर्ष को 'आर्यावर्त' का नाम दिया। स्वामी दयानन्द के आन्दोलन में चूँकि खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति अधिक थी, इस कारण कट्टरता भी कम न थी। इस्लाम और ईसाई मतों की उन्होने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में कड़ी आलोचना और भर्त्सना की है। 'सत्यार्थप्रकाश' के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने 'वेदांग प्रकाश', 'संस्कार-विधि', 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' और 'वेदों के भाष्य' आदि पुस्तकें

लिखी, जिनकी भाषा पण्डिताऊ और संस्कृत-गर्भित है। 'आर्यसमाज' के आन्दोलन उत्तर भारत में, विशेषकर पंजाब में हिन्दी का प्रचार करने में यथेष्ट योग दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक काल के आगमन से पूर्व ही हिन्दी भाषा का व्यापक प्रचार होने लगा था और सर्वसाधारण में हिन्दी भाषा को साहित्य, शिक्षा और राज-कार्य की भाषा बनाने के लिए उत्साह उत्पन्न होने लगा था। यह उत्साह राष्ट्रीय जागरण का ही पूर्व-चिह्न था। इसे भाषा का निर्माण-काल कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण या आधुनिक युग से पूर्व के हिन्दी गद्य-साहित्य के इस संक्षिप्त विवरण के पश्चात् अन्त में उन ऐतिहासिक कारणों पर भी विचार किया जाना चाहिए, जिन्होंने केवल खड़ीबोली में ही राष्ट्रीय जागरण-काल में गद्य-साहित्य के विकास की सम्भावना के द्वार खोले, और जिनसे ब्रजभाषा अधिकविकसित और समर्थ होने पर भी गद्य-साहित्य का माध्यम न बन सकी।

इस बात को फिर से दुहराने की जरूरत नहीं कि खड़ीबोली मूलतः मेरठ-दिल्ली के आसपास के जन-साधारण की मातृभाषा है। जब दिल्ली पर मुसलमान सुलतानों का आधिपत्य हुआ तो राजकाज और व्यापार के सिलसिले में हिन्दू एक बड़ी संख्या में मुसलमानों के सम्पर्क में आये। यद्यपि राजकीय व्यवहार की भाषा मुसलमानों के राज्य-काल में अन्त तक फारसी ही बनी रही, फिर भी दरबारों से सम्बद्ध हिन्दू और मुसलमान पारस्परिक विचार-विनिमय के लिए दिल्ली की स्थानीय बोली का ही प्रयोग करते थे। चौदहवीं शताब्दी में गुजरात और दक्षिण भारत में भी मुस्लिम सल्तनतें स्थापित हो गईं। बाद में बिहार और बंगाल में भी मुस्लिम राज्य कायम हुए। उत्तर भारत से गये मुस्लिम शासकों के साथ उनके अहलकारों, व्यापारियों और दरबार से सम्बन्धित लोगों का दल भी गया। इन लोगों की बोलचाल की भाषा खड़ीबोली ही थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शिष्ट-जनों में खड़ीबोली का प्रचार भारत के सभी प्रमुख नगरों में होने लगा और सामान्य जनों के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा खड़ीबोली

बनती गई। कालान्तर में फारसी के प्रभाव से खड़ीबोली की एक नई शैली का विकास हुआ, जिसे हम उर्दू कहते हैं, लेकिन अधिकतर लोग, जिन पर फारसी का प्रभाव नहीं पड़ा था, खड़ीबोली के परम्परागत हिन्दी रूप का ही व्यवहार करते रहे। इस प्रकार यद्यपि मध्यकाल में ब्रजभाषा ही हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा बनी रही, पर साथ ही एक दूसरी ऐतिहासिक प्रक्रिया भी जारी रही, जिसने आधुनिक काल से पूर्व ही खड़ीबोली के उत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। अंग्रेजों की सत्ता स्थापित होते ही उन्हें अपने राजकीय कार्यों के सुचारु संचालन के लिए, दफ्तरों के लिए कर्मचारियों को शिक्षा देने के लिए और ईसाई धर्म-प्रचारकों और उनके विरोध में उत्पन्न भारतीय धर्म-सुधार-आन्दोलनों के व्यापक प्रचार के लिए—सब तरफ से एक ऐसी सामान्य भाषा में गद्य-रचना की आवश्यकता प्रतीत हुई जो केवल प्रान्तीय या जातीय सीमाओं तक ही सीमित न हो, बल्कि जिसे सारे देश का शिष्ट समाज जानता-बोलता हो। खड़ीबोली हिन्दी ही सौभाग्य से ऐसी भाषा थी जो साहित्य की भाषा की भाषा के पद पर न होते हुए भी अपनी विशेष स्थिति के कारण नवीन विकास का माध्यम बन सकती थी और बनी भी।

२

राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि

हमने अपनी प्रस्तावना मे कहा है कि हिन्दी का गद्य-साहित्य राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है, और इस जागरण को युगानुकूल अधिक व्यापक और मूर्त रूप देते हुए ही हमारे गद्य-साहित्य का विकास हुआ है। आधुनिक काल के समस्त साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं को समझने के लिए इस ऐतिहासिक तथ्य को किंचित् विस्तार से समझ लेने की जरूरत है, ताकि साहित्य के विद्यार्थी 'राष्ट्रीय जागरण' के संकुचित अर्थ न लगाने लगे और इस युग के समस्त साहित्य का जहाँ कलात्मक मूल्यांकन करें वहाँ राष्ट्रीय जागरण की अपेक्षा मे रखकर भी उसका ऐतिहासिक तथ्य-निरूपण करते चले। ऐसा करके ही वे आधुनिक साहित्य का सही-सही अध्ययन कर सकते हैं।

राष्ट्रीय जागरण से तात्पर्य अपने राष्ट्रीय अस्तित्व और एकता की साम्राज्य-विरोधी राजनीतिक चेतना या भावना का उत्पन्न हो जाना मात्र नहीं है। इससे केवल इतना ही समझ लेना इसके अर्थ को अत्यन्त संकुचित कर देना है। हमारे राष्ट्रीय जागरण से मिलती-जुलती, किन्तु भिन्न ऐतिहासिक परि-स्थितियों में एक धारा यूरोप के देशो मे कई शताब्दियों पहले ही प्रवाहित हो चुकी है। अंग्रेजी में इस धारा को 'रिनेसाँ' (Renaissance) कहते हैं, जिसका इतिहास मे रूढ़ अर्थ 'सास्कृतिक पुनर्जागरण' है। यूरोप के सभी देशों मे 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' की धारा एक साथ ही नही प्रवाहित हुई, बल्कि अपने-अपने देश-काल की परिस्थितियो के अनुसार एक देश में एक शताब्दी में तो दूसरे देश में दूसरी शताब्दी मे 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' का युग शुरू हुआ। यह ठीक है कि जिस देश मे पुनर्जागृति पहले आ गई,

उसकी नई कला और नये साहित्य ने दूसरे मध्य-युग की निद्रा में पड़े-सोये देशों को भी नये विचारों और नई रचनाओं से झकझोरा और उन्होंने इक्की-दुक्की करवटें भी बदली, लेकिन जब तक किसी देश की आन्तरिक परिस्थितियों का स्वाभाविक विकास अनिवार्यता के सीमा-बिन्दु तक नहीं पहुँच गया, तब तक 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' ऐतिहासिक परिस्थितियों के गर्भ से एक उद्दाम, उच्छल धारा के रूप में फूटकर समस्त देश की जन-चेतना को आप्लावित न कर सका। इसीलिए चौदहवीं शताब्दी से इटली में शुरू होकर 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' की धारा अगली शताब्दी में इंगलैंड, फ्रांस तथा यूरोप के दूसरे देशों को लपेटती हुई उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस तक जा पहुँची। हमारे देश में यह धारा यहाँ की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों का आग्रह लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रकट हुई और अभी तक जारी है, यद्यपि अपने विकास की कई मंजिलें पूरी कर चुकी है। हमने इसे 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' का नहीं बल्कि 'राष्ट्रीय जागरण' का नाम दिया है। इसके ऐतिहासिक कारण है, जिन पर हम तत्काल विचार करेंगे।

यूरोप का सांस्कृतिक पुनर्जागरण मध्य-युगीन सामन्तवादी मान्यताओं और परम्पराओं से विच्छेद करने की भावना से प्रेरित था। यूरोपीय देशों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में मौलिक परिवर्तन हो रहे थे। ह्रासोन्मुख, सामन्तवादी समाज-व्यवस्था को चुनौती देने वाला व्यापारी वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो आगे चलकर पूँजीवाद का जनक बना। भाप की शक्ति के उपयोग से उत्पादन-यन्त्रों में एक अभूतपूर्व उन्नति की सम्भावना और औद्योगिक क्रान्ति की भूमिका तैयार हो चुकी थी। ऐसे समय मनुष्य की प्रगति के मार्ग में बाधक बनने वाले सामन्ती समाज-सम्बन्धों का ढाँचा नई सामाजिक शक्तियों के दबाव से टूटने लगा। जिस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वैसे ही चेतना के प्रत्येक स्तर पर इन परिवर्तनों का प्रभाव पड़ा। मानववादी शिक्षाओं ने प्राचीन ग्रीक साहित्य और कला की महान् परम्परा की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया और उसे अपनी प्रेरणा का स्रोत बनाया। इस प्रकार मध्य-युगीन सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से इस युग ने

अपने सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा की। मध्य-युगों में व्यक्ति की सत्ता को महत्ता नहीं प्राप्त थी। व्यक्ति केवल सामाजिक इकाई का मूक अंग समझा जाता था। धर्म-नीति ने जीवन और संसार के साथ मनुष्य के व्यक्तिगत सम्बन्ध की केवल इतनी महत्ता ही शेष रखी थी कि मनुष्य इस जीवन में निष्काम कर्म द्वारा अपनी आत्मा को इस योग्य बनाता चले कि कयामत के दिन उसे स्वर्गारोहण का अधिकार प्राप्त हो सके। किन्तु नई परिस्थितियों ने जब 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण काल' के मनुष्य को पुनः ग्रीक कला और साहित्य के सम्पर्क में पहुँचा दिया तो उसने एक नया ही दृश्य देखा। ग्रीक-कला और साहित्य ने मनुष्य को कुछ और ही शिक्षा दी थी। उसने सिखाया था कि मनुष्य अकिञ्चन और निरीह प्राणी नहीं है, बल्कि सृष्टि का वरदान है। मनुष्य असंख्य माध्यमों से उन्नति करके पूर्णत्व को प्राप्त कर सकता है। इस जगत् को माया समझकर घृणा की दृष्टि से देखना उसका कर्तव्य नहीं, बल्कि इस जगत् में रहकर, उसे अपनी बुद्धि और सामर्थ्य से समझना, बदलना और उसकी समृद्धियों का उपभोग और आनन्द प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण मध्ययुगीन दृष्टिकोण से भिन्न था। इस नये दृष्टिकोण में व्यक्तिवाद भी अन्तर्निहित था, जो बाद में रोमाण्टिक काव्य-धारा की मूल प्रेरणा बना। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि यूरोप में 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' की धारा एक ऐतिहासिक प्रक्रिया थी, इस कारण उसने जो मनोभूमि बनाई और जीवन के प्रति जो नया दृष्टिकोण दिया, वह एक दिन में ही सर्वत्र व्याप्त हो गया हो और मध्ययुगीन दृष्टिकोण एक दिन में ही लोगों के मानस से विलीन हो गया हो, सो बात नहीं है। वस्तुतः मध्ययुगीन दृष्टिकोण और चारित्रिक विशेषताएँ 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' की कला और साहित्य पर अन्त तक अपनी छाया डालती रहीं और बहुत धीरे-धीरे ही मिट सकी। परन्तु यह महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व की बात तो केवल यह है कि नई कला, नये दृष्टिकोण, चिन्तन, दर्शन, काव्य और साहित्य ने मध्ययुगीन परम्परा से निश्चित विच्छेद कर लिया था। सामन्ती गुलामी से मुक्ति पाने के संघर्ष में वहाँ की विभिन्न भाषा-भाषी जातियों का

अलग-अलग राष्ट्रीय निर्माण हो रहा था। समुद्र-पार के देशों के व्यापार से देश की बढ़ती शक्ति और सम्पन्नता का एहसास लोगों मे साहसिक कार्य करने की प्रेरणाएँ भर रहा था। स्वतन्त्रता की भावना पूरे जोर पर थी। एक लम्बे संघर्ष के बाद धर्म के बन्धन ढीले पड़ने लगे थे। यूरोप का 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' ऐसे वातावरण मे और ऐसा आशावादी रूप लेकर पैदा हुआ था।

यूरोपीय 'सास्कृतिक पुनर्जागरण' में राष्ट्रीय जागरण की भावना अन्तर्निहित थी। हमारे देश में, इसके विपरीत, 'राष्ट्रीय जागरण' मे ही 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' की प्रवृत्ति और सम्भावना अन्तर्निहित रही, क्योंकि हमारे देश की परिस्थितियाँ यूरोप से भिन्न थी।

आधुनिक काल शुरू होने से पहले ही सारे देश में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो चुका था। सन् १८५७ के विद्रोह के पूर्व ही देश के आर्थिक-सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में मौलिक परिवर्तन शुरू हो गए थे। अंग्रेज, फ्रांसीसी, पुर्तगाली और डच इस देश में सौदागरी के लिए आये थे। सन् १८१३ तक वे यूरोप की मण्डी के लिए भारत से तैयार माल ले जाया करते थे और बदले में अपने-अपने देशो का माल लाकर बेचते थे। इस व्यापार को सुरक्षित रखने की आवश्यकतावश जहाँ विदेशी सौदागर परस्पर में एक-दूसरे से लड़ते थे, वहाँ वे इस देश के नवाबों और राजाओ मे फूट डालकर उनके राज्यों को भी हड़पते जाते थे। अंग्रेजो की विजय के मार्ग में दुर्गम कठिनाइयाँ उपस्थित न हो पाईं, क्योंकि मुग़ल-साम्राज्य के विच्छिन्न होते ही देश मे ऐसी फूट पड़ी कि उन्हे अपनी भेद-नीति के कारण कभी इस नवाब या राजा के तो कभी उस नवाब या राजा के कन्धे पर बन्दूक रखकर चलाने का अवसर मिलता गया। देश की फूट केवल शासक-वर्गों तक ही सीमित न थी; जनता मे भी फूट थी। जनता हिन्दू और मुसलमानों में और इससे भी नीचे उतरकर धार्मिक सम्प्रदायों मे बँटी थी और वर्ण-व्यवस्था के परिणामस्वरूप जात-पाँत और छुआछूत ने इस फूट की खाई को और भी चौड़ा कर रखा था। धार्मिक अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड का भी जोर

था। देश में राष्ट्रीय चेतना का तो प्रश्न ही नहीं उठता; लोगों में ऐसी किसी भावना का अस्तित्व तक न था। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों का प्रभुत्व बढ़ते जाने के मार्ग में रुकावट कहाँ थी? सन् १८१३ तक पहुँचते-पहुँचते अंग्रेजों की व्यापार-नीति भी बदल गई। इस बीच औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंगलैण्ड में मशीनों से कपड़ा बनने लगा था, जिसकी खपत के लिए वहाँ के पूँजीपतियों को विदेशी मण्डियों की जरूरत पड़ी। भारत के ग्राम-उद्योग इन मशीनों का मुकाबला करने में असमर्थ रहे, और धीरे-धीरे कपड़ा आदि बाहर जाने के स्थान पर मैनचेस्टर और लंकाशायर का माल यहाँ आने लगा। यह देश विलायती माल की खपत और बदले में विलायत के कारखानों के लिए कच्चा माल पैदा करने की मण्डी बन गया। ऐतिहासिक दृष्टि से देश के जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजों ने अपनी अधिक उन्नत अर्थ-व्यवस्था के कारण यहाँ के ग्राम-उद्योगों को नष्ट करके मध्ययुगीन सामन्ती-व्यवस्था की जड़ खोद दी, साथ ही उन्होंने अपने आर्थिक लाभ और शोषण के लिए यहाँ के ग्राम-जीवन की एकता को छिन्न-भिन्न करके हमारे सामाजिक जीवन में जो कुछ भी महान और उदात्त था उस पर भी कुठाराघात किया और सारे देश को निरीह, विपन्न और दरिद्र बना दिया। अपने शोषण-चक्र को और भी तेजी से चलाने के लिए और सस्ते-से-सस्ते दामों पर कच्चा माल बटोरने के लिए अंग्रेजों ने रेल-तार-डाक की व्यवस्था की। किन्तु सारे देश में रेलों के बिछ जाने से, अंग्रेजों की मंशा के विपरीत ऐतिहासिक प्रक्रिया के फलस्वरूप, जो कार्य अकबर और औरंगजेब के लिए दुःसाध्य रहा, वह सम्पन्न हो गया, अर्थात् रेलों ने देश में एक राजनीतिक एकता पैदा कर दी, और सामन्ती-युग की संकीर्ण सीमाओं को तोड़ दिया। ऐतिहासिक नियम के अनुसार अंग्रेजों ने स्वार्थवश रेलें बनाकर अपने शोषण और साम्राज्य को चुनौती देनेवाली शक्तियों के उभरने की भूमिका भी तैयार कर दी। अपने माल की खपत बढ़ाने के लिए और अधिक-से-अधिक कच्चा माल यहाँ से ले जाने के लिए अंग्रेजों ने बड़े-बड़े इंजीनियरिंग के काम उठाए; नहरें,

सड़कें आदि बनवाईं, अपने राजतन्त्र को चलाने के लिए क्लर्क पैदा करने के उद्देश्य से अंग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध किया। इस प्रकार भारतीय महादेश को राजनीतिक एकता के सूत्र मे गूँथने और उसके आधुनिकीकरण का चक्र वेग से चल पड़ा। सन् १८५७ से पूर्व ही इन समस्त बाह्य कारणों से एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था और उन दिनों स्वार्थान्ध अंग्रेज अनजाने में ही इस क्रान्ति और ऐतिहासिक प्रगति के माध्यम बने। किन्तु चूँकि अंग्रेजों के लिए अपना स्वार्थ ही सर्वोपरि था, इसलिए यह सामाजिक क्रान्ति हमारी जनता के लिए असह्य रूप से मँहगी पड़ी। अंग्रेजो और उनके अहलकारों की लूट के कारण पैसा ही भगवान् बन गया, जिसके दर्शन दुर्लभ हो गए। ग्राम-उद्योग तो चौपट हो ही चुके थे, भारी-भारी टैक्सों के कारण किसान की खेतीबारी भी चौपट होने लगी और जगह-जगह अकाल पड़ने लगे। जब जिन्दगी दूभर हो उठी तो किसानों ने जगह-जगह विद्रोह किए, लेकिन अंग्रेजों ने उन विद्रोहो को बेरहमी से कुचल दिया। सारे उत्तर भारत की जनता के हृदय मे असन्तोष की आग सुलगने लगी।

इस असन्तोष का लाभ उठाया उन सामन्तों, राजे-नवाबों, धर्म-पुरोहितों और मुल्लाओ ने जो या तो अपदस्थ कर दिये गए थे, या अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त मध्यवर्ग के पैदा हो जाने से जिनका धार्मिक नेतृत्व और साख खतरे में पड़ गई थी। अर्थात् जो सामन्तवाद और उसकी संस्कृति के हिमायती थे, वे ही जनता के वास्तविक असन्तोष के नेता बन बैठे। सन् १८५७ का महान् विद्रोह इन अन्तर्विरोधी परिस्थितियो में हुआ। राष्ट्रीय भावना का जन्म उस समय भी न हुआ था, अतः इस विद्रोह का विफल होना अवश्यम्भावी था। किन्तु इस विद्रोह ने परिस्थिति मे एक कायापलट कर दी। इस विद्रोह ने समूचे देश को ऐसा झकझोरा कि पुनः मध्ययुगीन सुप्तावस्था की ओर लौटना असम्भव था। सामन्ती वर्ग के नेतृत्व में ही सही, पर जनता ने विद्रोह मे भाग लेकर और भीषण दमन और अत्याचार की चक्की में पिसकर जन-संघर्ष का पहला पाठ सीखा था, जिसे वह कभी न भुला सकी और जिसकी गर्वपूर्ण स्मृतियाँ उसे निरन्तर प्रेरणा देती रही।

साम्राज्यवाद ने जनता के इस संघर्ष और बलिदान से भयभीत होकर सामन्तवाद से समझौता किया और वह देश में प्रतिक्रिया का केन्द्र बन गया। टूटी-फूटी सामन्ती व्यवस्था साम्राज्यवाद की वरद् छाया में पलने लगी। किन्तु राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के संघर्ष की पताका अब स्वयं जनता और उसके प्रतिनिधियों ने अपने हाथों मे उठा ली थी और एक ओर उन्होंने मध्ययुगीन सामन्ती मान्यताओं, प्रथाओं और अन्ध-विश्वासों के दुर्ग पर चढ़ाई बोल दी तो दूसरी ओर अपने संगठन, प्रचार और आन्दोलन से अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीवो पर प्रहार भी करने शुरू कर दिए जो अब अपनी सामाजिक प्रगति की भूमिका समाप्त करके प्रगति-विरोधी बन चुका था और अपना रहा-सहा ऐतिहासिक औचित्य भी खो-बैठा था। भारतीय जीवन में 'राष्ट्रीय जागरण' की स्रोतस्विनी फूटी पड़ी थी और आधुनिक काल का समारम्भ हो गया था।

कम्पनी का राज हटा और सीधे इंगलैण्ड के सम्राट् का राज्य स्थापित हुआ। सारा देश अंग्रेजों का उपनिवेश बन गया। विक्टोरिया के राज्य में जो व्यवस्था और शान्ति दिखाई देती थी वह केवल ऊपरी थी। अन्दर त्रस्त और आतंकित जनता का आर्थिक शोषण इतना बढ़ गया था कि अकाल और महामारी दैनन्दिक जीवन की एक अनिवार्य, अतः स्वाभाविक, घटना बन गई थी। सन् १८६७ मे उड़ीसा का भयंकर अकाल पड़ा—उस समय जब किशोर भारतेन्दु की आयु अभी १७ वर्ष की ही थी। उड़ीसा की लगभग एक-चौथाई आबादी नष्ट हो गई। सन् १८७३ और फिर १८७७ मे फिर भीषण अकाल पड़े। इस बार लगभग दो लाख वर्गमील भूमि वीरान हो गई और उड़ीसा, मद्रास, मैसूर, दक्खिन और बम्बई में हाहाकार मचा रहा। असंख्य किसानों के साथ उनकी खेती के साधन गाय-बैल भी नष्ट हो गए। साहूकारों और जमींदारो की बन आई। भारतीय किसान कर्ज के असह्य बोझ से लद गया, और अपनी जमीने बेचकर खेत-मज़दूर बन गया। अंग्रेजी साम्राज्य के इस 'व्यवस्थित' और 'शक्तिशाली' राज्य से जनता को यही वरदान मिले। अंग्रेजों ने देश को एक राजनीतिक सूत्र

में बाँधकर तथा रेल-तार बिछाकर औद्योगिक उन्नति की परिस्थितियाँ और अनिवार्यता पैदा कर दी थी, फिर भी ऐतिहासिक प्रगति के नियमों की उपेक्षा करके उन्होंने देश मे किसी भी शर्त पर स्वतन्त्र उद्योग-धन्धों का विकास न होने देने की नीति ही बरती। परिस्थितियों का अन्तर्विरोध और आर्थिक संकट दिन-दूना-रात-चौगुना बढ़ता गया। नये वर्ग उत्पन्न हो रहे थे और गाँवो मे यदि नये ज़मींदारों और साहूकारों के विरुद्ध किसानों का असन्तोष बढ़ रहा था, तो नगरों मे भारत का महत्त्वाकांक्षी नवोत्थित पूँजीपति-वर्ग अपने उद्योग-धन्धों के विकास के लिए साम्राज्य से राजनीतिक और आर्थिक रियायतें माँगने के लिए अनुकूल अवसर की बाट जोह रहा था। सरकारी रेलों और कारखानो मे काम करने वाला एक नया वर्ग पैदा हो गया था—मज़दूर-वर्ग—जो नगर और गाँव के सामाजिक जीवन मे एक अन्तर्सम्बन्ध स्थापित कर रहा था। अंग्रेज़ शिक्षा करके प्राप्त निकले मध्यवर्ग के हृदय मे बेकारी और समाज के रूढ़ि-जर्जर जीवन के विरुद्ध असन्तोष का ज्वालामुखी उबलने लगा था। ऐसे समय पुराने सामाजिक जीवन के भेद-भाव, धार्मिक अन्धविश्वास और गतानुगतिकता से आबद्ध विचार निस्सार और कृत्रिम लगने लगे। राष्ट्रीय जागरण की प्रथम चेतना सुधार-आन्दोलनो के रूप मे मुखरित हो उठी; सास्कृतिक जागरण, राष्ट्रीय कला और साहित्य का अभिनव विकास और उन्मेष इन सुधार-आन्दोलनों के माध्यम से ही हुआ। संकीर्ण धार्मिक विश्वासो पर यदि आक्रमण किया गया तो मध्यकाल के भक्ति-आन्दोलनो की उदात्त, मानववादी परम्परा की उद्भावना भी की गई। छुआ-छूत, ऊँच-नीच, बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियो का विरोध किया गया, तो मनुष्य-मात्र की समानता, स्त्री-स्वातन्त्र्य, भारतीय एकता आदि का डटकर समर्थन भी किया गया। नई परिस्थितियों के अनुकूल सर्वसाधारण की मनोभूमि तैयार की जाने लगी। पश्चिम की शिक्षा और विज्ञान ने अपने इतिहास और अपनी समस्या को समझने के लिए नई रोशनी दी। इस प्रकार हम देखते है कि राष्ट्रीय जागरण ही हमारे सास्कृतिक जागरण की मूल प्रेरणा बना है। तब से राष्ट्रीय जागरण और सस्कृति, कला और

साहित्य के राष्ट्रीय निर्माण और विकास की धारा विरोधों और अवरोधों के बावजूद अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ती आई है। देश की व्यापक परिस्थितियों की प्रतिकूलता या अनुकूलता का प्रभाव हमारे कला-साहित्य के निर्माण और विकास पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता आया है, जिस प्रकार हमारे कला-साहित्य ने राष्ट्रीय जीवन और उसकी समस्याओं को प्रतिबिम्बित करके सर्वसाधारण को लक्ष्य और दिशा दिखाने में लगातार सहायता की है। हमारे गद्य-साहित्य का इतिहास भी इस अविच्छिन्न क्रिया-प्रतिक्रिया का अपवाद न हो सकता था।

कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय जागरण से प्रेरित हमारे राष्ट्रीय कला-साहित्य का विकास एक सीधी सरल रेखा के रूप मे नहीं हुआ। निरन्तर प्रगति हुई और होती आ रही है, लेकिन कभी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की रचनाशील शक्तियाँ केवल तथ्य-संग्रह मे ही संलग्न रही तो कभी अनुकूल अवसर पाकर उनकी शक्ति एक विस्फोट के साथ श्रेष्ठ, चेतना विकासी साहित्य के रचना-क्षेत्र मे प्रस्फुटित होकर एक नये उन्मेष की आभा से जगमगा उठी। कभी समाज-सुधार को लक्ष्य मे रखकर काव्य और गद्य-साहित्य के रूपों का विकास हुआ, तो कभी केवल अपनी दुरवस्था की व्यापक चेतना जगाने के लिए इतिवृत्तों का आश्रय लिया गया।

इस प्रकार राष्ट्रीय जागरण के इस लम्बे काल में अनेक प्रवृत्तियाँ और विचारधाराएँ हमारे साहित्य के माध्यम से प्रकट होकर भारतीय जनता की चेतना का नवसंस्कार और नवनिर्माण करती आई हैं। किसी भी समय केवल एक ही प्रवृत्ति साहित्य की धारा रही हो, सो बात नही है। एक ही समय मे हमे कई प्रवृत्तियाँ समानान्तर चलती दिखाई देती हैं। परन्तु किसी का वेग साहित्य मे मन्द होता गया है तो किसी का बढ़ता गया है।

हिन्दी के गद्य-साहित्य का विकास समझने के लिए राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखना जरूरी है। समय की आवश्यकता ने ही हमारे यहाँ भी गद्य-साहित्य के विभिन्न रूपों के सम्यक् विकास की अनुकूल परिस्थितियाँ गढ़ी है और इसे सम्भव बनाया है। अतः गद्य-साहित्य के विकास

का इतिहास राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि में विभिन्न गद्य-रूपों—नाटक, एकांकी उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि—के माध्यम से विकसित साहित्य का ही इतिहास है।

३

हिन्दी नाटक

गद्य-साहित्य के विकास मे यह उल्लेखनीय बात है कि हिन्दी मे सबसे पहले नाट्य-साहित्य का ही विकास हुआ। भारत मे साहित्यिक नाटक और लोक-नाटक की परम्परा प्राचीनतम काल से चली आ रही थी। अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि के संस्कृत नाटक अपने अनुपम कलात्मक सौन्दर्य के लिए चिरख्याति तो प्राप्त कर ही चुके थे, भारतीय लोक-परम्परा मे इन साहित्यिक नाटकों के अतिरिक्त लोक-नाटकों का व्यापक प्रचलन भी पहले से ही चला आ रहा था, जिनमे 'रास' की परम्परा अत्यन्त प्राचीन थी। इसलिए राष्ट्रीय जागरण की प्रातःवेला मे जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी लेखक देश को अपनी दुरवस्था के प्रति सचेत करने के लिए गद्य-साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त हुए तो अन्य रूपों के साथ-साथ गद्य-साहित्य का यह रूप (Form) ही उन्हे सर्व-सुलभ लगा। परिस्थितियाँ इसलिए भी अनुकूल थीं कि उन दिनों जनता के पास अपनी सांस्कृतिक क्षुधा को शान्त करने का एक ही साधन उपलब्ध था—मेलों-ठेलों मे खेले जाने वाले नाटक और त्यौहारों के अवसर पर किये जाने वाले रामलीला और रासलीला के आयोजन। इसलिए नाटक ही एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा वे शिष्ट और साधारण जन-समाज के अधिक-से-अधिक श्रोताओं और दर्शकों तक पहुँच सकते थे। इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि सन् १८६१ मे ही राजा लक्ष्मणसिंह ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित कर दिया था। इसने लोगों का ध्यान प्राचीन नाटकों की ओर तो आकर्षित किया ही, हिन्दी मे स्वतन्त्र और मौलिक नाटकों की रचना की ओर भी उन्हे मोड़ा।

नाटकों की रचना की। इस संक्षिप्त सूची से ही स्पष्ट है कि आधुनिक काल के प्रारम्भ मे भारतेन्दु की पीढ़ी के लेखकों ने देश मे धर्म-सुधार, समाज-सुधार और देश-प्रेम की भावना का व्यापक प्रसार करने के लिए कितनी लगन और एकनिष्ठा से हिन्दी मे नाट्य-साहित्य की रचना में योग दिया। इसमें सन्देह नही कि ये नाटक उपदेशात्मक अधिक थे और उनमें कलात्मक तत्त्व गौण थे, जिससे भारतेन्दु के नाटकों के अतिरिक्त आज उनका साहित्यिक मूल्य शेष नही रह गया, फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण की प्रथम चेतना को सम्यक् अभिव्यक्ति देने और तत्कालीन परिस्थितियों और समस्याओं को यथार्थ रीति से साहित्य मे प्रतिबिम्बित करने की अत्यन्त शुभ प्रवृत्ति दिखाई थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वभाव से ही विनोदी तथा परिहासप्रिय व्यक्ति थे। वस्तुतः उनकी पीढ़ी के सभी लेखकों में एक अद्‌भुत जिन्दादिली मिलती है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उस समय तक देश के परम्परागत सामाजिक जीवन से उन लेखकों का सम्पर्क अत्यन्त गहरा बना हुआ था। वे रूढ़ प्रथाओं और अन्धविश्वासों पर आक्रमण करते समय भी अपने को सामान्य जन-जीवन से अलग और कटा हुआ नही पाते थे। इस जिन्दा-दिली का पूरा प्रभाव भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों द्वारा रचे गए प्रहसनों में लक्षित होता है। तत्कालीन जीवन की अन्धविश्वासग्रसित कूप-मण्डूकता और अवास्तविकता का पर्दाफाश करने के लिए प्रहसन सबसे तीखे अस्त्र साबित हुए, क्योंकि उनमे कुरीतियो पर खुलकर व्यंग्य-वर्षा की जा सकती थी। सबसे पहले *भारतेन्दु* ने ही सन् १८७३ में 'वैदिकी हिसा हिसा न भवति' नाम से एक प्रहसन लिखा था जिसमें उन्होंने धार्मिक पाखण्डो तथा अनाचारों की खिल्ली उड़ाई थी कि किस प्रकार पूजा-तपस्या की आड़ में भक्तगण माँस-मदिरा उड़ाते हैं। सन् १८८१ में उनका दूसरा प्रहसन 'अंधेर नगरी' निकला। इसने सामाजिक कुरीतियों पर आक्रमण करने का एक नया द्वार खोल दिया। *बालकृष्ण भट्ट* ने वेश्यावृत्ति और नशे के दुष्परिणामों का उद्‌घाटन करते हुए सन् १८७७ मे दो प्रहसन लिखे—

'शिक्षादान' और 'जैसा काम वैसा परिणाम'। *देवकीनन्दन त्रिपाठी* ने 'रक्षाबन्धन', 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्री-चरित्र', 'वेश्याविलास' आदि प्रहसन लिखे जो विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। *राधाचरण गोस्वामी* ने 'लोग देखें तमाशे', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' और 'बूढ़े मुँह मुहासे' आदि प्रहसन लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने समाज के सभी अंगों की कटु आलोचना की है और अपने अन्तिम प्रहसन में हिन्दू-मुसलमान किसानों की एकता और जमींदार के प्रति उनके विद्रोह को भी चित्रित किया है। वर्ग-संघर्ष की इतनी स्पष्ट चेतना उस प्रारम्भिक काल के लेखकों में अन्यत्र नहीं मिलती।

राष्ट्रीय जागरण के इस प्रारम्भिक काल के लेखकों का ध्यान अनुवाद की ओर भी गया और संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी से अनेक नाटकों के अनुवाद किये गए। स्वयं *भारतेन्दु* ने संस्कृत के 'कर्पूर मंजरी', 'पाखण्ड-विडम्बन', 'धनञ्जय-विजय' और 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों का अनुवाद किया। *लाला सीताराम* ने 'उत्तररामचरित', 'मालती-माधव', 'माल-विकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द' आदि के अत्यन्त सरस और सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। इनके अतिरिक्त *बालमुकुन्द गुप्त* ने 'रत्नावली' और *ज्वालाप्रसाद मिश्र* ने 'वेणी-संहार' का अनुवाद किया। *तोताराम वर्मा* ने अंग्रेजी से ऐडिसन के नाटक 'क्रेटो' का अनुवाद 'क्रेटो वृत्तान्त' के नाम से किया और इसके पश्चात् शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद 'वेनिस नगर का व्यापारी' (Merchant of Venice), 'मन-भावन' (As You Like It), 'प्रेमलीला' (Romeo and Juliet) और 'साहसेन्द्र साहस' (Macbeth) नाम से निकले। बंगाली के भी अनेक नाटकों के अनुवाद हिन्दी में किये गए जिनमें केवल 'पद्मावती', 'वीर नारी', 'कृष्णाकुमारी' 'सती नाटक', 'दीप-निर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' ही उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय मराठी नाटकों के भी अनुवाद किये गए। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु की पीढ़ी के लेखकों ने साहित्य के अन्य क्षेत्रों की ही तरह नाट्य-साहित्य के निर्माण और संग्रह में जैसी क्रियाशीलता का परिचय दिया वह

अभूतपूर्व ही नहीं अद्‌भुत भी थी और अपने कर्तव्यों के प्रति उनकी जाग-रूकता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के नाटककारों के समय में ही पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रिवाज चल पड़ा था। कुछ कम्पनियाँ उनसे पहले से चली आ रही थी। इन कम्पनियों द्वारा जो नाटक खेले जाते थे उनका उद्देश्य सस्ते और अश्लील मनोरंजन द्वारा अधिक-से-अधिक पैसा कमाना था। रंगमंच की दुनिया मे पूँजीवाद ने कदम रख दिया था। नाटक को कला और सामाजिक प्रयोजन से च्युत करके मुनाफा कमाने की मनोवृत्ति ही प्रधान बन बैठी थी। इसका दुष्प्रभाव लोक-नाट्य के रूपो पर भी पड़ने लगा था और वहाँ भी अश्लील गानो और चटक-मटक, हाव-भाव और ऐयारी के दृश्य उपस्थित करके जन-साधारण की रुचियो को विकृत और कुत्सित बनाने की चेतन-अचेतन चेष्टाएँ शुरू हो गई थीं। भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों को इस प्रवृत्ति से भी संघर्ष करना पड़ा, यद्यपि इसमें वे सर्वथा सफल हो सके हों यह नही कहा जा सकता। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों को अगर वास्तव मे उखाड़ा तो सन् १९३० के पश्चात् फिल्म-व्यवसाय ने, जिसने और बड़े पैमाने पर मुनाफा कमाने के लिए आधुनिक विज्ञान और टेकनीक की सफलताओं का भरपूर उपयोग करके पारसी-कम्पनियों के मनोरंजन-आयोजन को नगण्य बना दिया।

भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के नाटककारों के बाद जो पीढ़ी आई उसे परम्परागत रंगमंच भी उपलब्ध न हो सका। इस बीच लगातार मध्यवर्ग की वृद्धि के कारण लोक-जीवन से लेखकों का सहज सम्बन्ध टूटता गया और व्यवधान की खाई धीरे-धीरे बढ़ती गई। भारतेन्दु के बाद नाट्य-गगन में जयशंकरप्रसाद के उदय तक पण्डित बदरीनाथ भट्ट के अतिरिक्त और कोई प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न न हुआ, किन्तु जब जयशंकरप्रसाद ने नाट्य-रचना शुरू की तो उस समय जीवन की परिस्थितियाँ, नाटक के श्रोता-दर्शक और रंगमंच का स्वरूप सब-कुछ आमूल बदल चुके थे। फलतः जयशंकर प्रसाद को अपने लिए नई लीक बनानी पड़ी।

भारतेन्दु-पीढ़ी और जयशंकर प्रसाद के अन्तर्काल में यों नाटक कम नहीं लिखे गए, लेकिन उनमें प्रतिभाशील नाटककारों का अभाव था। *नारायणप्रसाद 'बेताब', आगाहश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर', तुलसीदत्त 'शैदा'*, आदि ने जो नाटक लिखे वे पारसी कम्पनियों के रंग-मंच को ध्यान में रखकर ही लिखे, जिससे उन्होंने क्लिष्ट उर्दू से सरल बोल-चाल की भाषा का प्रयोग रंगमंच पर चाहे करवा लिया हो, लेकिन मौलिक नाट्य-साहित्य के विकास में उनका विशेष स्थान नहीं हो सकता। भारतेन्दु से बाद के और प्रसाद से पूर्व के नाटककारों में केवल दो-चार नाम ही उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने मौलिक नाटक लिखने की प्रवृत्ति दिखाई। इनमें *पं० बदरीनाथ भट्ट* के 'कुरु-वन-दहन' (१९१२ ई०), 'दुर्गावती' तथा 'चन्द्रगुप्त', *पं० माधव शुक्ल* का 'महाभारत' (१९१५ ई०), *मिश्रबन्धु* का 'नेत्रोन्मीलन', *लोचन शर्मा पाण्डेय* का 'प्रेम-प्रशंसा' (१९१४ ई०) *आनन्दप्रसाद खत्री* का 'संसार-स्वप्न' (१९१३ ई०) आदि नाटक ऐसे हैं जिनका आज भी साहित्यिक मूल्य बाकी है।

इन नाटकों के अतिरिक्त इस पीढ़ी के लेखकों ने कतिपय प्रहसनात्मक नाटक भी लिखे। उनमें व्यंग तथा सुरुचिपूर्ण हास्य की पुट देकर सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का उद्‌घाटन किया गया है। इनमें *बदरीनाथ भट्ट* के 'चुंगी की उम्मेदवारी' (१९१४ ई०), 'विवाह-विज्ञापन' तथा 'लबड़धोंधों', *राधेश्याम मिश्र* का 'कौंसिल की मेम्बरी', *सुदर्शन* का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', *पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र* के 'उजबक' और 'चार बेचारे', *गंगाप्रसाद श्रीवास्तव* का 'मार-मारकर हकीम' और *राधेश्याम कथावाचक* का 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुलखैरू' आदि उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय जागरण के पूर्ण प्रस्फुटन-काल में अनेकानेक प्रतिभावान् कवियों, आलोचकों, कथाकारों के समान ही जयशंकर प्रसाद-जैसे महान् नाटककार का भी उदय हुआ। प्रसाद की प्रतिभा भारतेन्दु के समान ही कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना—सभी क्षेत्रों में मौलिक रूप से स्फुटित हुई।

पहला महायुद्ध समाप्त हो चुका था और देश में पहली बार ऐसे राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हो रहा था जिनमें समग्र जनता संगठित रूप से भाग लेकर उनकी रूपरेखा, लक्ष्य और कार्य-नीति पर व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव डालने लगी थी। पाश्चात्य साहित्य और जनवादी विचारों का भी गहरा प्रभाव पड़ रहा था। ऐसे समय यह स्वाभाविक है कि भारतीय नाट्य-परम्परा में भी इन प्रभावों से परिवर्तन आएँ। बंगाली नाटकों के अनुवाद धड़ल्ले से निकल रहे थे और द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ टाकुर के नाटकों ने विशेष रूप से हिन्दी के नाटककारों की शैली और रचना-तन्त्र (टेकनीक) को प्रभावित किया था। यह बात नहीं है कि यह प्रभाव सर्वथा स्वस्थ रूप से ही ग्रहण किये गए हों। साधारण रचनाओं में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक थी, जिसके कारण अंग्रेजी का अनुकरण करने वाले बँगला नाटकों की देखा-देखी ही हिन्दी-लेखकों ने भी विषय-वस्तु की आवश्यकताओं का ध्यान न रखकर संस्कृत-नाटकों के परम्परागत विधान को छोड़ पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करना शुरू कर दिया। नान्दी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना का बहिष्कार-सा हो चला। स्वयं भारतेन्दु ने अपने दो-एक नाटकों में यह काट-छाँट शुरू कर दी थी। भारतीय साहित्य-शास्त्र में नाटक भी काव्य के अन्तर्गत ही माना जाता है, इसलिए नाटक का उद्देश्य भी रस-सृष्टि ही समझा गया है। इसीलिए पात्र कैसे हों और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में पड़कर वे संवाद और चेष्टाओं द्वारा किस प्रकार दर्शकों में रस-संचार करें, इसका विस्तृत विधान प्राचीन नाट्य-शास्त्र में मिलता है। पाश्चात्य नाटकों की परम्परा इससे भिन्न रही है। उनमें विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण पर विशेष जोर दिया जाता है जिससे विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए मानव का समस्त मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दरशाया जा सके। यहाँ दोनों में से किसी को अच्छा-बुरा सिद्ध करने का प्रश्न नहीं है। केवल यह समझ लेना आवश्यक है कि पाश्चात्य साहित्य-संस्कृति के सम्पर्क में आने से हमारे नाटकों की रचना-शैली पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। केवल अन्धाधुन्ध अनुकरण ही बुरी चीज होती है, अन्यथा ऐसे बाह्य प्रभावों को अपने

देश-काल की चेतना में आत्मसात् करके प्रतिभावान कलाकार मौलिक और अनूठी कृतियों की रचना करने में सफल हो सकते हैं। प्रसाद ने ऐसे ही सार्थक समन्वय की चेष्टा की और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता भी मिली।

जयशंकरप्रसाद (सन् १८९१-१९३७ ई०) का पहला नाटक 'सज्जन' सन् १९१० ई० में प्रकाशित हुआ था और फिर 'करुणालय', 'प्रायश्चित' तथा 'राजश्री' क्रमशः सन् १९१२, १९१३, १९१४ में प्रकाशित हुए। किन्तु ये प्रारम्भिक नाटक थे और प्रसाद की कला, शैली और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करते। उनसे केवल एक प्रवृत्ति का आभास मिलता है, जिसका अपनी परिपुष्ट रचनाओं द्वारा उन्होंने साहित्य में प्रवर्त्तन किया। यह 'छायावाद' (रोमाण्टिक भाव-विचारधारा) की प्रवृत्ति है। 'राजश्री' को उन्होंने बाद में आमूल परिवर्तन-संशोधन करके प्रकाशित कराया।

प्रसाद ने इसके पश्चात् सात वर्ष तक अध्ययन, मनन और कला-साधना में लगाए। सन् १९२१ में 'विशाख' प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा कि, "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंक में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।" इस दृष्टिकोण का विकास हो जाने के बाद 'राजश्री' को सम्मिलित करके प्रसाद ने अपने अन्त समय तक और दस नाटक रचे जिनमें से आठ ऐतिहासिक हैं।

प्रसाद के नाटकों का विवेचन करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि यह हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण की ही विशेषता नहीं है कि ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों को लेकर इतने अधिक नाटकों और उपन्यासों की रचनाएँ हुईं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण-काल में पाश्चात्य देशों के साहित्य में भी यह प्रवृत्ति प्रमुख रही है। 'राष्ट्रीय जागरण की पृष्ठभूमि', वाले प्रकरण में हम इस बात का कारण समझा चुके हैं। यहाँ इतना और कह देना जरूरी है कि केवल सांस्कृतिक या राष्ट्रीय जागरण के काल में ही नहीं बल्कि किसी भारी राष्ट्रीय संकट के काल में भी जीवन की यथार्थ सम-

स्याओं को समझने के लिए या उन समस्याओं का सामना करने योग्य मनोबल, साहस और उदात्त आदर्श-भावना की प्रेरणा पाने के लिए लेखक और कलाकार अतीत के उस गौरवशाली इतिहास की उद्भावना करते हैं और अपने जातीय संघर्ष में उसे अपने प्रेरक, मित्र और सहयोगी की निसर्ग भूमिका प्रदान कर देते हैं। अतीत जीवन की गरिमा से यह इतिहास वर्तमान जीवन की संकटापन्न दुरवस्था की शृङ्खला जोड़कर वर्तमान जीवन के वैषम्य की चेतना को ही गहरा बनाता है। अन्ततः यह चेतना वर्तमान को बदलने का संकल्प बनकर कार्य-क्षेत्र मे प्रतिफलित होती है। अपने इतिहास से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, प्रगतिशील है, पुनरुत्थानवादी नहीं।

भारतेन्दु के समय से ही यह प्रवृत्ति हमारे साहित्य मे मुखर रही है। परन्तु भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों ने अधिकतर पौराणिक (Mythological) कथानकों और पात्रों को ही लिया था। वाल्मीकि की 'रामायण' और वेदव्यास का 'महाभारत' हमारे अतीतकालीन जीवन के दो ऐसे महाकाव्य हैं, जिनमे नियति-चक्र के विरुद्ध संघर्ष करते हुए सामाजिक मनुष्य के अदम्य साहस, औदार्य, विवेक और सहानुभूति के प्रतीक, ऐसे असंख्य पात्र और घटनाएँ हैं जो अपने सहज मानवीय गुणों के कारण हमारे देश के लोक-मानस में आदिकाल से अपना स्थान बनाये हुए हैं। राष्ट्रीय चेतना का स्फुरण इन पौराणिक कथाओं को जनता की स्मृति में बदली हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में पुनः मूर्तित कर देना, स्वयं अपने में एक प्रगतिशील कार्य था। बाद में डी० एल० राय आदि के नाटकों से प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी लेखकों ने पौराणिक आख्यानों को छोड़कर दो-एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे, जिनका उल्लेख यथास्थान हो चुका है। लेकिन वे प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में ही स्मरणीय हैं। वास्तविक अर्थ मे ऐतिहासिक नाटकों की रचना तो जयशंकर प्रसाद से ही शुरू होती है। उन्होंने ही सबसे पहले गम्भीर खोज और अध्ययन करके मध्य-युग से लेकर बौद्धकालीन तथा आर्यकालीन भारत तक के उन उदात्त, देश-भक्त पात्रों की अपने नाटकों में मूर्त

अवतारणा की जिनके जीवन-चरित युग-जीवन को उदात्त सांस्कृतिक प्रेरणा देने मे समर्थ थे। प्रसाद का दृष्टिकोण यद्यपि छायावादी (भाव-प्रधान, रोमाण्टिक) है, फिर भी उन्होने इतिहास की मौलिक खोज के पश्चात् ही ऐतिहासिक पात्रों की कलात्मक सृष्टि की है। उनके नाटको की भूमिकाएँ अपना स्वतन्त्र ऐतिहासिक मूल्य रखती हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राखाल बाबू ने भी स्वीकार किया है कि प्रसादजी ने अनेक स्थलो पर हमारे इतिहास-ज्ञान मे संशोधन किया है।

जयशंकर प्रसाद के तेरह नाटको मे से आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं।

ऐतिहासिक नाटको मे ही 'राजश्री' प्रसाद की प्रथम कृति है। 'राजश्री' स्थाणीश्वर नरेश राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की बहन थी और कान्यकुब्ज नरेश ग्रहवर्मा को ब्याही गई थी, जिसे बाद मे मालवपति उपगुप्त ने मरवा दिया था। इस नाटक मे राजश्री के वृत्तान्त के साथ-साथ हर्षकालीन भारत का भी चित्रण किया गया है, और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसाग तक को पात्र के रूप मे घसीटा गया है, जिससे कथावस्तु को व्यर्थ की तूल देनी पड़ी है। विशाख का कथानक काश्मीरी इतिहासकार कल्हण की राजतरंगिनी से लिया गया है। अजातशत्रु में प्रसाद ने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया है कि अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार का वध करके सिहासन पर बैठा। परन्तु फिर भी बिम्बसार का चरित्र गम्भीर, उदार और शालीन बना है, और अजातशत्रु उच्छृंखल और स्वार्थी है। इस नाटक मे सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण उच्चकोटि का हुआ है, केवल गौतमबुद्ध का चरित्र उनके अनुरूप नही उभर सका। 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद जी का सबसे लम्बा नाटक है। उन्होंने इस जटिल, किन्तु अत्यन्त सुगठित नाटक मे भारत पर यूनानी आक्रमण और मौर्य-राज्य के संस्थापन का विस्तृत चित्र दिया है; साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि मौर्य शूद्र वंश के नहीं बल्कि पिप्पली-कानन के क्षत्रिय थे और चन्द्रगुप्त ने यूनानी सेनापति सेल्यूकस को परास्त करके भारत का मुख उज्ज्वल किया था। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध मे पहले भी नाटक लिखे जा

चुके थे। संस्कृत मे विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक तो था ही, द्विजेन्द्र-लाल राय का 'चन्द्रगुप्त' भी हिन्दी पाठकों को उपलब्ध था। परन्तु प्रसाद ने इन दोनों से अधिक विशाल और जटिल कथा-वस्तु की योजना की। 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त के चाणक्य की कुटिलता नही है। प्रसाद ने चाणक्य के चरित्र मे भी उज्ज्वलता भर दी है। इस नाटक का कथानक अपनी जटिलता के कारण अद्वितीय है। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' मे गुप्त-वंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रपौत्र के उस शौर्य का चित्रण है जिसकी स्मृति से प्रत्येक भारतवासी का मस्तक आज भी गर्व से ऊँचा उठ जाता है। हूणों से युद्ध करते हुए स्कन्दगुप्त खेत रहे और उनके साथ ही गुप्त-वंश का साम्राज्य भी नष्ट हो गया। प्रसादजी के अनुसार स्कन्दगुप्त ही वह विक्रमादित्य थे जिनके राजकवि कालिदास थे। स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण आदर्श हुआ है। विजया और देवसेना का चरित्र भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। प्रसाद के नाटको में स्कन्दगुप्त सम्भवतः सबसे श्रेष्ठ है। 'ध्रुव स्वामिनी' प्रसाद का अन्तिम ऐतिहासिक नाटक है। इसमे उन्होने गुप्तकाल के रहस्य पर प्रकाश डाला है। विशाखदत्त के एक अन्य नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कई उद्धरण प्राचीन संग्रहो मे मिले हैं, जिनमे समुद्रगुप्त के बड़े पुत्र रामगुप्त का उल्लेख हुआ है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व गद्दी पर बैठे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय इन्ही को गद्दी से हटाकर सम्राट् बने थे। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की पत्नी थी, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उससे पुनर्विवाह किया। प्रसाद ने इस कथा से यह सिद्ध करना चाहा है कि उस काल में भी विधवा-विवाह होते थे। यह छोटा-सा नाटक प्रौढ़ और सुन्दर शैली में लिखा गया है। स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण इसमें विशेष रूप से निखरा है।

प्रसाद के अन्य नाटको में 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'कामना' ही महत्त्वपूर्ण हैं।

'जनमेजय का नाग यज्ञ' का कथानक पौराणिक है और उसमे उन्होंने आर्य और नाग जातियों का संघर्ष दिखाया है। घटना कलियुग के प्रारम्भ की है। अर्जुन के पौत्र राजा परीक्षित को तक्षक नाग ने मारा था, इस पर

उनके पुत्र जनमेजय ने इसका बदला लेने का प्रण किया। पौराणिक नाटकों की परम्परा मे प्रसाद का यह नाटक अत्यन्त प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें जनमेजय और तक्षक नाग अपनी-अपनी सभ्यता के आदर्श चित्रित किये गए हैं। दो जातियों के संघर्ष से खिन्न और त्रस्त होकर आर्य-बाला सरमा विश्वमैत्री की समर्थक बन जाती है। अन्त मे दोनो पक्षों में मेल होता है और जनमेजय का विवाह नाग-पुत्री मणिमाला से हो जाता है। 'कामना' एक भाव-नाट्य है। सांसारिक माया-मोह से दूर विजन प्रकृति के अंचल में पली मनुष्य की कामना किस प्रकार विलास की लालसा मे पड़कर अपने उच्च आदर्शों से नीचे गिर जाती है, इस नाटक मे प्रसाद ने इसी भाव को रूपक मे बाँधा है। अन्त में विवेक की विजय के साथ कामना सन्तोष का दामन पकड़ लेती है।

प्रसाद के नाटको के बारे मे आम तौर पर यह कहा जाता है कि उनकी शैली दुरूह है, भाषा क्लिष्ट है और कही भावुकता तो कहीं दार्शनिकता की विशेष पुट है, जिससे साधारण पाठक के लिए उनके अर्थ की गहराई तक पहुँचना भी दुर्गम हो जाता है। इसमे सन्देह नहीं कि उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है, बोलचाल की मुहावरेदार, फड़कती भाषा नही है। यही कारण है कि उनका परिहास कहीं-कहीं अत्यन्त परिष्कृत तथा कृत्रिम हो गया है। लेकिन समग्र रूप से देखें तो प्रसाद को यह भाषा अपने नाटको को अर्थ-गाम्भीर्य और सूक्ष्म सांस्कृतिक वातावरण देने के लिए ही अपनानी पड़ी। अतः दोष होते हुए भी इससे उनके नाटकों की कलात्मकता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ा है। उनके नाटकों के बारे मे दूसरी बात यह कही जाती है कि वे पढ़े ही जा सकते हैं, उनका अभिनय नहीं किया जा सकता। हम पहले बता चुके हैं कि जिस समय प्रसाद ने लिखा उस समय तक सामान्य जन-जीवन से साहित्यकार का व्यवधान इतना बढ़ गया था कि वह अब मेले-ठेलों के अवसर पर प्रयोग में आने वाले लोक-नाट्य के रंगमंच के लिए नाटक न लिख सकता था और न लोक-रंगमंच की अति सरल, वैविध्य-रहित और साधारण शैली और टेकनीक उन जटिल घटना-चक्रों, अनुभूतियों

और भाव-भंगियों को ही दिखाने मे समर्थ थी जिनकी योजना प्रसाद को अभीष्ट थी। पारसी थियेटरों के कुरुचिपूर्ण, व्यावसायिक रंगमंच के लिए लिखने का प्रश्न भी प्रसाद जैसे श्रेष्ठ कलाकार के सामने न था। स्कूल-कालेजों का 'अमेच्योर' (Amateur) रंगमंच भी अभी तक अविकसित ही था और राष्ट्रीय रंगमंच की तो उस समय कल्पना भी दुर्लभ थी। इस-लिए प्रसाद ने यद्यपि खेले जाने के लिए ही नाटक लिखे, और उनके अधिकतर नाटक पूर्णतः अभिनेय हैं, परन्तु अभी तक श्रेष्ठ कला के राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव मे अधिक खेले नही जा सके हैं, जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की सम्भावनाओं का अभी हमारे देश मे पूरी तरह विकास ही नही हुआ। अतः पहले से ही ऐसी धारणाएँ बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियो को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।

प्रसाद की पीढ़ी तथा बाद के लेखको ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटको की रचना का क्रम जारी रखा। *माखनलाल चतुर्वेदी* ने 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९२२ ई०) लिखा जो उन दिनो बहुत प्रसिद्ध हुआ। *पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र* ने 'महात्मा ईसा' लिखा और *सुदर्शन* ने 'अंजना'। *प्रेमचन्द* ने हज़रत हुसैन के मारे जाने के करुण ऐतिहासिक वृत्त को लेकर 'कर्बला' नाटक लिखा, परन्तु यह नाटक सफल नही बन सका। इसके अतिरिक्त 'संग्राम' नाम का उनका सामाजिक नाटक भी अस्वाभाविक और शिलथ है। प्रेमचन्द जितने सफल उपन्यासकार और कहानी-लेखक थे उतने ही असफल नाटककार भी थे। *लक्ष्मीनारायण मिश्र* ने 'अशोक', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का हास', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि अनेक नाटक लिखे हैं। मिश्रजी यो तो सफल नाटककार हैं, लेकिन इतिहास का अध्ययन आपका उतना गहन नही है जितना प्रसाद का था, जिससे आपके ऐतिहासिक नाटको मे अपनी इच्छित बात को सिद्ध करने के लिए मनमाने ढंग से घटनाओं की योजना और चरित्र-चित्रण रहता है। परन्तु आपके सामाजिक नाटक अपेक्षया अधिक सफल हैं। उनमे लेखक की गहरी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और जीवन की समस्याओं की कलात्मक पकड़ भी

दिखाई देती है। *जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द* ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' लिखा, जो अपने समय में बहुत प्रशंसित हुआ। यह नाटक ऐतिहासिक है, परन्तु इतिहास की मोटी-मोटी बातों को लेकर केवल कल्पित घटनाओं के सहारे रचा गया है। वैसे गठन और चरित्र-चित्रण साधारणतया अच्छा है। *गोविन्द-वल्लभ पन्त* के नाटकों मे 'वरमाला', 'राजमुकुट' और 'अंगूर की बेटी' उल्लेखनीय हैं। पहले का कथानक उन्होंने मारकण्डेय पुराण से लिया है और दूसरे मे मेवाड़ की वीरांगना पन्ना धाय के त्याग का चित्रण किया है। तीसरे में मद्यपान की समस्या उठाई गई है। *श्री सुमित्रानन्दन पन्त* ने 'ज्योत्सना' नाम से एक भाव-रूपक लिखा, जिसमे नाटक की अपेक्षा काव्य के तत्त्व ही अधिक है। *वृन्दावनलाल वर्मा* ने 'फूलों की बोली' और 'बाँस की फाँस', 'हंस मयूर', 'रानी लक्ष्मीबाई' आदि अनेक नाटक लिखे हैं, किन्तु आप मे एक नाटककार की प्रतिभा का अभाव है। *सेठ गोविन्द-दास* ने सम्भवतः इस बीच सबसे अधिक नाटक लिखे हैं किन्तु प्रचार के बावजूद उनमे से एक भी हिन्दी-साहित्य मे अपना विशेष स्थान नही बना पाया। 'कर्तव्य', 'प्रकाश', 'हर्ष', 'स्पर्धा', 'कुलीनता' आदि उनके नाटकों की सूची लम्बी है। *उदयशंकर भट्ट* अपेक्षया अधिक सफल नाटककार हैं। आपके पौराणिक नाटक विशेष रूप से आपके गहन अध्ययन का परिचय देते है। आपके 'मत्स्यगन्धा', 'सगर-विजय', 'अम्बा' और 'आदिम युग' पौराणिक नाटक हैं। 'मत्स्यगन्धा' छोटी सी नाटिका है जिसमे मत्स्यगन्धा पराशर ऋषि से समागम करके अमर यौवन का वरदान प्राप्त करती है, किन्तु विधवा हो जाने पर यौवन-काल की चंचलता से पाया हुआ वरदान उसे अभिशाप लगने लगता है। 'अम्बा' शाल्व से प्रेम करती है किन्तु हरण किये जाने से शाल्व उसका परित्याग कर देता है। इस पर अम्बा भीष्म का व्रत खण्डित करने के लिए उनसे विवाह करने पर तुल जाती है। 'विश्वामित्र' और 'राधा' भट्टजी के छोटे भाव-नाट्य हैं। *रामनरेश त्रिपाठी* ने भी कुछ नाटक लिखे हैं जिनमे 'जयन्त' और 'प्रेम-लोक' लोकप्रिय हुए थे। जयन्त में गरीबों पर अमीरों के अत्याचार का चित्रण है तो प्रेम-लोक

में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या का। *आचार्य चतुरसेन शास्त्री* ने भी कतिपय ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, जिनमें 'अमर राठौर' तथा 'उत्सर्ग' प्रसिद्ध हैं। पहले में शाहजहाँ के जागीरदार अमरसिंह राठौर की वीरता का वृत्त है। किन्तु इसमें ऐतिहासिक घटनाएँ सारी सही नहीं हैं। दूसरे नाटक में चित्तौड़ के तृतीय शाका की घटना के आधार पर कथानक का निर्माण हुआ है, यद्यपि घटना के अनुकूल न चरित्र-चित्रण हो पाया है और न वस्तु-निर्माण ही। *हरिकृष्ण 'प्रेमी'* अपेक्षया सफल नाटककार हैं। एक समय आपकी प्रसिद्धि भी काफी थी। आपने 'स्वर्ण-विहान' नाटक लिखा, जिसे सरकार ने जब्त कर लिया। बाद में आपने 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' तथा 'प्रतिशोध' आदि मध्यकालीन भारत से सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे। आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजने के लिए ही इन ऐतिहासिक कथानकों को अपनाया गया है। इनमें 'रक्षा-बन्धन' सबसे सफल है, यद्यपि उसकी अति-भावुकतापूर्ण शैली खटकती है। *उपेन्द्रनाथ 'अश्क'* सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखने में सबसे अधिक सफल हुए हैं। आपके नाटकों में 'छठा बेटा', 'स्वर्ग की झलक', 'जय-पराजय', 'कैद' तथा 'उड़ान' हैं। सभी अभिनीत हो चुके हैं और सफल रहे हैं। नाटकों की कथावस्तु सामयिक जीवन की विभिन्न समस्याओं से निर्मित हुई है। समस्याएँ यथार्थ हैं और उनका चित्रण भी यथार्थ हुआ है। शैली, संवाद, वस्तु-विन्यास सभी उपयुक्त और सूक्ष्म रीति से मनोवैज्ञानिक और सुगठित हैं। *जगदीशचन्द्र माथुर* का ऐतिहासिक नाटक 'कोणार्क' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसाद के बाद यों तो ऐतिहासिक नाटक बहुत से लिखे गए, लेकिन कोई भी प्रसाद के नाटकों की कलात्मक श्रेष्ठता को नहीं छू पाया। 'कोणार्क' ही एक ऐसा अपवाद देखने में आया है, जिससे आशा बँधती है कि ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में एक नई प्रतिभा का उदय हो रहा है जो 'प्रसाद' से भिन्न स्तर पर, भिन्न समस्याओं को लेकर इतिहास के गर्त में भिन्न दिशाओं से प्रवेश करके युगानुकूल कथावस्तु की टोह में है। 'कोणार्क' में उड़ीसा-स्थित 'कोणार्क' के प्राचीन ध्वस्त मन्दिर के निर्माण

और ध्वंस-सम्बन्धी किंवदन्तियों और ऐतिहासिक सूचनाओं के आधार पर उसके निर्माता शिल्पी विशु की कला-साधना के वृत्तान्त को लेकर कथावस्तु का निर्माण हुआ है। 'प्रसाद' के समय में और उनके बाद भी हिन्दी में बँगला और पाश्चात्य नाटकों के अनुवाद का क्रम जारी रहा। अनुवादकों में रामचन्द्र वर्मा और रूपनारायण पाण्डेय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। *रामचन्द्र वर्मा* ने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अतिरिक्त गिरीश बाबू के दो नाटकों 'प्रफुल्ल' और 'वैधव्य कटोर दण्ड है या शान्ति' तथा बर्नार्ड शॉ के 'जोन ऑव आर्क' का अनुवाद किया है। *रूपनारायण पाण्डेय* ने बँगला से 'आहुति अथवा जयपाल', 'पतिव्रता', 'खानजहाँ', 'अचलायतन', 'दुर्गादास', 'ताराबाई', 'शाहजहाँ', 'चन्द्रगुप्त' आदि के अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। इनमें गिरीश बाबू, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक शामिल हैं।

प्रसाद और उनके बाद के नाटककारों की कृतियों के इस संक्षिप्त परिचय से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात तो यह कि ऐतिहासिक अथवा पौराणिक नाटकों की परम्परा आगे नहीं बढ सकी, यद्यपि इस कोटि के नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे गए। प्रसाद ने अपने युग-जीवन को इतिहास की चेतना से अनुप्रेरित और अनुप्राणित करने के लिए केवल उन्हीं ऐतिहासिक कथानकों का चयन किया था जो इस दृष्टि से अर्थवान् और गौरवशाली हो सकते थे। किन्तु बाद के लेखकों की दृष्टि इतनी व्यापक नहीं रही, केवल ऐतिहासिक नाटक लिखने की खातिर अपनी-अपनी सीमित दृष्टि और रुचि से ऐच्छिक प्रेरणा पाने के लिए ही उनकी रचना हुई। सामयिक समस्याओं का समाधान पाने के लिए मध्यकालीन भारत के ऐतिहासिक कथानक लेकर जो नाटक लिखे गए, वे अधिकतर असफल ही रहे। या तो प्रतिभा की कमी या कथावस्तु की परिसीमित उपयोगिता या दोनों के ही कारण मध्यकालीन ह्रास-युग चित्र कलात्मक नहीं बन पाए। दूसरी बात यह कि भारतेन्दु की पीढ़ी के या बाद के नाटककारों ने जितनी व्यापक सामाजिक चेतना दिखाई थी, उतनी व्यापक सामाजिक चेतना प्रसाद के बाद के नाटककारों में देखने

को नही मिलती। जन-जीवन मे आज नई शक्तियों के प्रभाव से जो परिवर्तन हो रहे हैं, जो असन्तोष, वैषम्य, संकट और वेदना भरी हुई है, नाटको के माध्यम से इसका कलात्मक चित्रण अपेक्षया कम ही हो पाया। केवल उपेन्द्र-नाथ 'अश्क' ही इस दिशा मे कुछ सफल प्रयास करते दिखाई देते हैं। अन्य लेखक अक्सर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक गुत्थियो को उलझाने-सुलझाने मे ही बहक जाते हैं।

एक बात और—परिस्थितियों मे जो और परिवर्तन हुए सो तो हुए ही, नाट्य-परम्परा में भी एक नया विकास इस बीच हुआ। स्कूल-कालिजों के 'अमेच्योर' रंगमंच के साथ-साथ हिन्दी में राष्ट्रीय रंगमंच का विकास भी शुरू होने लगा, जिसके परिणामस्वरूप बड़े नाटकों के स्थान पर लघु नाटकों के खेले जाने की सम्भावनाएँ पैदा हो गईं। इससे हिन्दी मे 'एकांकी' कला का विकास अनिवार्य हो गया, जिनमे 'प्रहसन' भी शामिल हैं। फलतः प्रसाद के बाद के सभी नाटककारों का मुख्य क्षेत्र एक प्रकार से एकांकी ही रहा है।

एकांकी नाटक

प्राचीन लक्षण-ग्रन्थो मे रूपक और उपरूपकों के जो भेद गिनाये गए हैं उनमे से भाण, व्यायोग, अंक, वीथी और प्रहसन—ये पाँच एकांकी रूपक-प्रकार है। इन एकांकी रूपकों की अंग्रेजी के कर्टेन रेज़र (Curtain Raiser) या आफ्टर पीसेज़ (After Pieces) से तुलना नही की जा सकती, क्योंकि कर्टेन रेज़र या आफ्टर पीसेज़ १८वी-१९वी शताब्दी के इंगलिस्तान मे मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले या बाद मे दर्शकों का समय काटने के लिए दिखाए जाते थे। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न होता था और वे अधिकतर भाण और प्रहसन से मिलते-जुलते थे। हिन्दी के आधुनिक एकांकी नाटकों का सम्बन्ध हम संस्कृत के प्राचीन रूपकों से जोड़ सकते हैं। यद्यपि आधुनिक एकांकी विषय-वस्तु और कला की दृष्टि से प्राचीन एकांकी रूपको से बहुत आगे विकास कर आया है,

फिर भी इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिए कि हिन्दी में नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करने वाले *भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र* ने जो एकांकी लिखे उनमे से 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अन्धेर नगरी' तथा 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन हैं और 'भारत-दुर्दशा' एक रूपक है। इनके पश्चात् *श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण, गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप-नारायण मिश्र* आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, जिन्हे रूपकों मे ही परिगणित किया जाता है। आधुनिक एकांकी से इन रूपकों का शैली-भेद अवश्य है, परन्तु उन्हे हम रूपक कहकर, आधुनिक एकांकियों को उनकी परम्परा और उनके वर्ग से अलग नही कर सकते। क्योंकि भारतेन्दुकालीन एकांकियों की विषय-वस्तु अपने सामयिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन से ली गई थी, यह तथ्य उन्हे आधुनिक जीवन की परम्परा का प्रतिनिधि बना देता है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन एकांकी आधुनिक एकांकियों के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमे कला का वह विकसित रूप नही मिलता जो हमारे नये एकांकी-लेखकों की कला मे विकसित हो रहा है।

हिन्दी के आधुनिक एकांकियों मे हमे कला-सम्बन्धी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते है वह एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारो की कला से प्रभावित है। और यह स्वाभाविक भी था कि इब्सन और बर्नार्ड शॉ जैसे इस युग के विश्ववन्द्य कलाकारो का क्रान्तिकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ता। उनके नाटको ने हिन्दी के अधिकांश नाटककारो और एकांकी लेखकों को अपनी प्रतिभा का विकास करने मे योग दिया है। हमारे नाटककारो की विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्षों से सम्बन्ध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने में वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, उसका संस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से हुआ है।

हिन्दी मे एकांकियों की जिस परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया था वह अपने विकास की कई मंजिलों को पार कर आई

और हिन्दी के आधुनिक नाटकों में अब हमें निश्चय ही कला का विकसित रूप दिखाई देता है। भारतेन्दुकालीन नाटकों का संक्षेप में हम उल्लेख कर चुके हैं। इन नाटकों की कला पर संस्कृत के नाटकों का विशेष प्रभाव था, यद्यपि बंगाली नाटकों के माध्यम से पाश्चात्य शैली का प्रभाव भी इन पर पड़ने लगा था।

उस काल के नाटकों के विषय सामाजिक जीवन से लिये गए थे। इस प्रकार वे हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक चेतना को प्रतिबिम्बित करते हैं, और हिन्दी के आधुनिक एकांकी के प्राथमिक रूप कहे जा सकते हैं।

हिन्दी-एकांकियों का यह प्रथम काल सन् १८७३ से लेकर, जब भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिसा हिंसा न भवति' लिखा, सन् १९२९ तक मानना चाहिए, जब प्रसाद ने अपने 'एक घूँट' एकाकी की रचना की। वास्तव में 'एक घूँट' में ही आकर एकांकी नाटक की आधुनिक शैली का भरपूर निखार होता है, जिसके कारण डा० नगेन्द्र तथा अनेक दूसरे समालोचक उसे हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'एक घूँट' के बाद एकांकी लेखन की परम्परा बहुत तेजी से आगे बढ़ी और पिछले बीस-बाईस वर्षों में अनेक प्रतिभाशाली एकांकीकार हमारे साहित्य में पैदा हुए।

प्रसादजी के बाद यों तो *सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्द वल्लभ पन्त*, आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, लेकिन शैली और कला की शिथिलता के कारण साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाए। लेकिन इस बीच पाश्चात्य नाटककारों, विशेषकर बर्नार्ड शॉ से प्रभावित *भुवनेश्वर* और एकांकी की टेकनीक के मर्मज्ञ *डॉ० रामकुमार वर्मा* आदि एकांकीकार उत्कृष्ट कला का विकास कर रहे थे। बाद को *श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'* और दूसरे अनेक एकांकी-लेखक भी इस क्षेत्र में आये। यहाँ हम प्रमुख आधुनिक एकांकीकारों का परिचय सम्भव ऐतिहासिक क्रम से दे रहे हैं।

भुवनेश्वर प्रसाद के छः एकांकियों का संग्रह 'कारवां' सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ था। इन नाटकों पर बर्नार्ड शॉ के भाव-विचारों का गहरा

प्रभाव है। यद्यपि पाश्चात्य विचार-प्रणाली का उनमें इतना गहरा रंग मिलता है फिर भी ये नाटक जब प्रकाशित हुए उस समय हिन्दी-संसार ने उनका हिन्दी-साहित्य मे उत्साहपूर्वक स्वागत किया। इसका एक कारण यह भी था कि हमारे मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन की खोखली नैतिकता और मिथ्या आडम्बर का निर्ममतापूर्वक इन नाटकों में उद्घाटन किया गया है, जो दर्शक और पाठक को अपने जीवन की वास्तविकता के प्रति झकझोर कर जागरूक कर देते हैं। भुवनेश्वर बर्नाडा शॉ की अन्तर्भेदी दृष्टि का अपने अन्दर विकास करके भारतीय जीवन और भारतीय मानस को अपने अनुभव से ढालकर मौलिक नही बना पाए, जिससे उनके नाटकों में मौलिकता की अपेक्षा अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक दिखाई दी। आजकल सम्भवतः उनका लिखना बन्द-सा हो गया है।

डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटको का पहला संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' सन् १९३६ मे निकला। इसके बाद उनके 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्तकिरण', 'विभूति', 'चार ऐतिहासिक एकांकी' और 'कौमुदी-महोत्सव' आदि एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। वर्माजी के नाटकों का क्षेत्र ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों हैं। उनकी प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक संघर्षों का सूक्ष्म-चित्रण करने की ओर है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्माजी एक श्रेष्ठ एकांकी नाटककार हैं और हिन्दी में एकांकी नाटक को श्रेष्ठ कलात्मक रूप देने में उनका सबसे बड़ा योग है। उनके अधिकांश नाटक दुखान्त होते हैं और इसी कारण गहरा प्रभाव डालते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क एक प्रतिभाशाली एकांकी नाटककार हैं। इनका सबसे पहला नाटक-संग्रह 'देवताओं की छाया मे' सन् ३८ में प्रकाशित हुआ था। उस समय से 'चरवाहे', 'तूफ़ान से पहले', 'कैद और उड़ान' आदि अन्य संग्रह प्रकाशित हुए। अश्कजी ने दुखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक एकांकी-नाटकों की रचना की है। हास्य और व्यंग्य-लेखन में वे सिद्धहस्त हैं। साथ ही गम्भीर मनोवैज्ञानिक संघर्ष का चित्रण करने में भी वे कम सफल नहीं हुए हैं। अश्कजी वर्तमान

जीवन के वैषम्य पर तीखे व्यंग्य करते हैं जिससे उनकी विद्रोही चेतना के दर्शन होते हैं।

उदयशंकर भट्ट का प्रथम एकांकी नाटक-संग्रह 'अभिनव एकांकी नाटक' नाम से सन् १६४० में प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक 'आदिम-युग', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा' और 'स्त्री का हृदय' आदि एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भट्टजी के एकांकी नाटक अधिकतर सामाजिक हैं यद्यपि पौराणिक विषयों पर भी उन्होंने कई एकांकी लिखे है। उनके नाटकों मे पात्रों के मन का अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक रूप से विकसित होता है और अधिकतर उनके एकांकी दुखान्त होते हैं। सामाजिक वैषम्य का यह विषादान्त चित्रण मर्म को छू लेता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के श्रेष्ट नाटककारों मे से है। इधर कुछ दिनों से उन्होंने एकांकी नाटक लिखने शुरू किए हैं और उनके पाँच ऐतिहासिक एकाकियों का संग्रह 'अशोक-वन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। मिश्रजी के नाटकों की शैली अत्यन्त स्वाभाविक और सूक्ष्म है। उनके ऐतिहासिक नाटकों की भाषा अन्य नाटककारों की तरह जान-बूझकर कृत्रिम रूप से संस्कृत-गर्भित नहीं बनाई गई होती। इसी कारण उनके नाटकों की भाषा में प्रसाद गुण अधिक है।

जगदीशचन्द्र माथुर एक प्रतिभाशाली एकांकी नाटककार हैं। उनका पहला एकांकी 'भोर का तारा' सन् १६३७ में लगभग विद्यार्थी अवस्था मे ही लिखा गया था और प्रयाग विश्वविद्यालय मे कई बार अभिनीत हुआ था। इसी नाटक के नाम से उनके एकांकियों का प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ था। उसके बाद और कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है, यद्यपि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं मे उनके एकांकी यदा-कदा छपते रहते हैं। श्री माथुर की सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार देखती है जो रूढ़िग्रस्त संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है। इसी कारण उनके नाटकों मे एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ अमानवीय मानव-स्वाभिमान को चोट पहुँचाने वाली

जर्जर मान्यताओं और लोकाचारों पर निर्मम प्रहार रहता है।

विष्णु प्रभाकर ने इधर अनेक एकांकी नाटक लिखे है। आपका पहला एकांकी संग्रह 'इन्सान' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् उनका दूसरा संग्रह 'क्या वह दोषी था' अभी हाल में ही प्रकाशित हुआ है। इसमें चार एकांकी नाटक हैं और चार रेडियो-रूपक है। श्री विष्णु प्रभाकर के सामाजिक नाटकों की एक विशेषता यह है कि वह वर्तमान समाज-व्यवस्था के ह्रास और आडम्बर का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित करते समय पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण करते हैं और उन पात्रों के आडम्बर और रूढ़िग्रस्त स्वभाव के भीतर छिपी सहज मानवता को उद्घाटित कर देते है। उनके ऐतिहासिक नाटकों मे भी चरित्र-चित्रण और आन्तर्बाह्य द्वन्द्व का उद्देश्य मानव-आदर्शों और मूल्यों का उद्घाटन करना होता है। विष्णु जी इस सोद्देश्यता का आरोपण बाहर से नही करते, बल्कि नाटकीय घटनाएँ स्वयं स्वाभाविक रीति से इस सोद्देश्यता को व्यक्त करती चलती हैं।

४

हिन्दी उपन्यास

'आधुनिक उपन्यास' का विकास यूरोप में हुआ, भारत में नहीं।

यूरोप में भी 'उपन्यास' का विकास एक आधुनिक घटना है। इस संश्लिष्ट रूप-विधान (Form) का विकास आधुनिक (पूँजीवादी) युग में ही सम्भव था। इसीलिए अनेक विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे 'आधुनिक युग का महाकाव्य' बताया है। इस कारण नहीं कि उपन्यास मे पूर्वीय या पाश्चात्य काव्य-शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य की रचना-पद्धति का पालन होता है, बल्कि इसलिए कि इस रूप-विधान के अन्तर्गत रचनाकार को आधुनिक युग की वास्तविकता के अनुरूप ही विषय-वस्तु, कथानक, चरित्र-चित्रण आदि की संश्लिष्ट योजना करके समग्र जीवन को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का एक ऐसा साधन या माध्यम प्राप्त हुआ है जिसका क्षेत्र और सम्भावनाएँ अपरिसीमित हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि यूरोप में आधुनिक युग का आरम्भ होते ही किसी एक लेखक ने किसी वर्ष एक उपन्यास रचकर उसके पूर्ण विकसित रूप-विधान की सृष्टि कर दी हो, और उसकी निश्चित सीमाएँ निर्धारित हो गई हों। साहित्य और कला के रूप-विधान इस प्रकार नहीं पैदा होते। युग-जीवन की आवश्यकताओं से प्रेरित यूरोप के सांस्कृतिक जागरण काल में साहित्य और कला के क्षेत्र की क्रियाशीलता यदि इतनी वैविध्यपूर्ण और समृद्ध न होती, और प्रतिभावान् लेखकों ने समग्र जीवन को अभिव्यक्ति देने योग्य साहित्य के नये माध्यमों में लगातार रचनात्मक प्रयोग न किये होते तो सम्भव है कि उपन्यास की कला को पूर्ण प्रौढ़ता और उत्कर्ष प्राप्त होने में और भी अधिक समय लगता। यों भी इसमें कई शताब्दियाँ लग गईं।

हिन्दी-उपन्यास के विकास को समझने मे पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य और कला के विकास का संक्षिप्त परिचय लाभप्रद हो सकता है।

कथा-कहानी की परम्परा नई नही है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य मे 'पञ्चतन्त्र', 'हितोपदेश', 'वेताल पंचविंशति', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका,' 'शुक-सप्तति', 'कथा-सरित्सागर', 'बृहत्कथा-मंजरी' तथा 'कादम्बरी' और 'हर्ष-चरित' आदि कथाएँ और नीति-उपदेश की गल्पे हमे प्राप्त हैं, उसी प्रकार यूरोप के प्राचीन यूनानी (ग्रीक) साहित्य मे भी ईसा से पहले और बाद की कथाएँ मिलती हैं। लातीनी (लैटिन) साहित्य में भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं किन्तु वास्तव मे न रूप-विधान की दृष्टि से और न कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ही उन्हे आधुनिक उपन्यास की कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि आधुनिक उपन्यास के विकास मे इन प्राचीन कृतियो को कथा-साहित्य की परम्परा की प्रारम्भिक कड़ी कहने मे कोई आपत्ति नही।

आधुनिक उपन्यास का वास्तविक विकास तो यूरोप के सांस्कृतिक जागरण के साथ ही शुरू होता है—सर्वप्रथम इटली से। सामन्ती-प्रथा के ह्रास और नवोत्थित व्यापारी-वर्ग की उन्नति का वह युग था। प्रारम्भिक इतालवी उपन्यासों में प्रेम और साहस की नैतिक और पौराणिक कहानियाँ होती थी, जिनमें पतित स्त्रियों, दुराचारी पादरियो, असभ्य किसानों और कुलीन घरों के सामन्तों को पात्र बनाया जाता था। इटली के लेखक *बोकेशियो* की व्यंग और विनोदपूर्ण रचना 'डी केमरॉन' (१३४८) प्रारम्भिक युग की विश्वविख्यात रचना है। उसके बाद स्पेन के लेखक *सरवान्ते* ने सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'डन क्यिज़ोट्' (१७०५) की रचना की जिसने उपन्यास-साहित्य में एक क्रान्ति मचा दी। तदनन्तर लगभग एक शताब्दी के प्रयोगों के बाद फ्रान्स मे *रेबेले* जैसी प्रतिभा का लेखक पैदा हुआ जिसने सन् १५३५ में 'गरगन्तुआ' लिखा और उसके बाद दो सौ वर्षों तक फ्रान्स में रोमानी और यथार्थवादी उपन्यासों की रचना होती रही। इन सब देशों के उपन्यास-साहित्य की परम्परा से प्रभाव ग्रहण करके अठारहवीं

शताब्दी में अंग्रेजी उपन्यास का विकास हुआ और 'उपन्यास' आधुनिक अर्थ में अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। स्वयं इंगलैण्ड में भी सोलहवीं शताब्दी के अन्त मे 'उपन्यासो' की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी और अठारहवीं शताब्दी से पहले *सर फिलिप सिडनी* का 'आर्केडिया' (१५९०) और *जॉन बुनियन* का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६७८-८४), *डेनियल डिफो* का 'रॉबिन्सन क्रूसो' (१७१९), और 'मॉल फ्लैण्डर्स' (१७२२) तथा *जानेथन स्विफ्ट* का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) प्रकाशित हो चुके थे, जिन्होंने अन्योक्ति-विधान द्वारा मानव-जीवन के यथार्थों का चित्रण करके आधुनिक उपन्यास के विकास के लिए एक महान् परम्परा तैयार कर दी थी। इस समृद्ध परम्परा की गोद में आधुनिक उपन्यास का इंगलैण्ड में, फिर फ्रान्स और रूस में प्रौढ़तम विकास और चरमोत्कर्ष हुआ। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में असाधारण औपन्यासिक प्रतिभाएँ जन्मी। *सेम्युअल रिचर्डसन* (पामेला १७४०), *स्मॉलेट* (रोडेरिक रैण्डम १७४८), *हेनरी फीलिडग* (टॉम जोन्स, १७४९, अमीलिया १७५१) ने अपनी अमर रचनाओं द्वारा उपन्यास-साहित्य को नई प्रगति और समृद्धि दी। इसके बाद तो इंगलैण्ड में *स्टर्न* (ट्रिस्ट्रम शैण्डी), *ऑलिवर गोल्ड स्मिथ* (विकार ऑफ वेकफील्ड), *जेन आस्टिन* (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस), *सर-वाल्टर स्कॉट* (वेवर्ली नावेल्स), *चार्ल्स डिकेन्स* (डेविड कॉपरफील्ड), *शार्लटब्रॉण्टी* (जेन आयर), *थेकरे* (वेनिटी फेयर) और *जॉर्जइलियट* (एडम बीड) आदि अनेक महान् उपन्यासकार हुए। फ्रान्स में *बाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बाल्ज़क, स्टेन्ढाल, जॉर्ज सेण्ड, ज़ोला फ्लाबेयर* और *अनातोल फ्रान्स,* जर्मनी मे *गेटे;* रूस मे *पुश्किन, गोगोल, लर्मान्तोफ तुर्गनेव, दॉस्तोवस्की* और *तॉलस्ताय* जैसी महान् प्रतिभाओं ने अपनी अमर कृतियों से उपन्यास-साहित्य का चरम विकास किया। यद्यपि प्रत्येक महान् उपन्यासकार ने उपन्यास-कला में अभिवृद्धि की थी, किन्तु फिर भी साहित्य के अन्य रूपों से भिन्न उपन्यास की अपनी अलग सत्ता बन गई थी। लेखकों की शैली और जीवन के प्रति देखने के ढंग से चाहे हम उपन्यासों

का प्रवृत्तिमूलक वर्गीकरण रोमाण्टिक (छायावादी), यथार्थवादी, प्रभाववादी और प्रकृतिवादी के रूप मे क्यों न कर ले, किन्तु इस समस्त विकास से इतना तो स्पष्ट हो चुका था कि वस्तु-निरूपण की दृष्टि से उपन्यास का उद्देश्य या तो मनोरंजन करना है, या जीवन की किसी समस्या को उपस्थित करना है, या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अंकित करना है। साथ ही रूप-विधान और वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध मे भी ये सामान्य तथ्य निर्धारित हो ही चुके थे कि उपन्यास में कथानक और चरित्र-चित्रण ही प्रमुख है; इन दोनो मे से किसी के बिना उपन्यास की रचना असम्भव है। अन्त मे इन गुणों की भी स्थापना हो चुकी थी कि उपन्यास कितना भी यथार्थवादी क्यो न हो वह एक कल्पनाजन्य कृति है, बाह्य जीवन की केवल यथातथ्य अनुकृति नही, और यह कि उपन्यास कितना भी काल्पनिक क्यों न हो मानव-जीवन और मानव-अनुभव ही उसका मूलाधार है।

जिस समय हमारे देश मे राष्ट्रीय जागरण की लहर उठी और हमारा अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त वर्ग पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के सम्पर्क मे आया तो उस समय तक यूरोपीय उपन्यास-साहित्य का उतना विकास हो चुका था जिसका हमने ऊपर जिक्र किया है। परन्तु फिर भी हिन्दी मे उपन्यासो का विकास केवल पाश्चात्य उपन्यासों की देखा-देखी ही नहीं हुआ। न पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासो की परम्परा से ही विशेष प्रेरणा ली गई और न किसी लेखक ने किसी महान् उपन्यास के पैमाने पर हिन्दी मे प्रयोग करने का साहस ही किया। हिन्दी से पहले ही बंगाली में अच्छे उपन्यासों की रचना शुरू हो गई थी, इसलिए उनकी देखा-देखी हिन्दी मे भी उपन्यास लिखे गए। साथ ही ढेर-के-ढेर बंगाली उपन्यासो का अनुवाद भी किया गया। ये प्रारम्भिक प्रयोग प्रेमचन्द के आगमन तक बदस्तूर जारी रहे, और हिन्दी के उपन्यासकार आचार, धर्म, नीति और समाज-सुधार की भावना से उपदेशात्मक उपन्यास या केवल मनोरंजन के लिए तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास लिखते रहे, लेकिन उनमें से कोई उपन्यास साहित्य की स्थायी सम्पदा बनने योग्य नही है। अतः प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम अपनी श्रेष्ठ

कृतियों से हिन्दी-उपन्यास को वह प्रौढ़ता, गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की जो बंकिम, रवीन्द्र और शरत् की कृतियों ने बंगला उपन्यासों को या महान् पाश्चात्य लेखकों ने यूरोपीय उपन्यासों को प्रदान की थी। इसलिए प्रेमचन्द से पूर्व के हिन्दी-उपन्यासों का उल्लेख केवल इतिवृत्त की पूर्ति और परम्परा के विकास को जानने के लिए ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि प्रेमचन्द सोलहों आने इस परम्परा से संबद्ध नहीं हैं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-उपन्यास की परम्परा का सूत्रपात प्रेमचन्द से ही होता है।

भारतेन्दु उपन्यासों की शक्ति से परिचित थे, और उन्होंने स्वयं एक उपन्यास लिखना शुरू किया था जो पूरा न हो सका। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक उपन्यास (पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा) का अनुवाद भी किया था। लेकिन हिन्दी का सबसे पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) है, जिसके लेखक *लाला श्रीनिवासदास* थे। इसके पश्चात् *रत्नचन्द प्लीडर* ने 'नूतन चरित्र' (१८८३), *बालकृष्ण भट्ट* ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९२), *राधाकृष्णदास* ने 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०), *राधाचरण गोस्वामी* और *देवीप्रसाद शर्मा* ने 'विधवा-विपत्ति' (१८८८), *कार्तिकप्रसाद खत्री* ने 'जया' (१८९६), *किशोरीलाल गोस्वामी* ने 'लवङ्गलता', 'कुसुम-कुमारी' (१८९०), *बालमुकुन्द गुप्त* ने 'कामिनी', *गोपालराम गहमरी* ने 'नये बाबू' (१८९४) 'सास-पतोहू' और 'बड़ा भाई' (१८९८), और *लज्जाराम मेहता* ने 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' आदि उपन्यास लिखे। इन सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास भी लिखे गए। *देवकीनन्दन खत्री* फारसी और उर्दू से इस परम्परा को हिन्दी में लाये। सन् १८९१ में उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' लिखे जो रोचक वर्णन और तिलिस्म, ऐयारी और जासूसी से भरी रोमांचकारी घटनाओं के कारण इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक लेखकों ने उनका अनुकरण किया। फलतः सन् १९१५ तक हिन्दी में ऐसे ही उपन्यासों की बाढ़ रही। *देवीप्रसाद शर्मा*

जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त हरेकृष्ण जौहर, बालमुकुन्द वर्मा, मदनमोहन पाठक, विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा, रामलाल वर्मा, चतुर्भुज औदीच्य और चन्द्रशेखर पाठक आदि ने ऐयारी के उपन्यासों का ताँता बाँध दिया और गोपालराम गहमरी, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त, ईश्वरीप्रसाद शर्मा. जगबहादुरसिंह, शेरसिंह, चन्द्रशेखर पाठक, शिवनारायण द्विवेदी आदि की कलम जासूसी उपन्यासों के अतिरंजित रोमांचकारी कथानकों की खानापूरी करती रही।

किन्तु प्रेमचन्द से पूर्व, इस शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों में ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रेमाख्यानक उपन्यास भी कम नहीं लिखे गए। ऐतिहासिक उपन्यास उन दिनों नाम को ही ऐतिहासिक होते थे, न उनसे लेखक का ऐतिहासिक अनुसंधान प्रकट होता था, न वातावरण ही। उन पर भी तिलिस्मी उपन्यासों का गहरा प्रभाव था। इसलिए किशोरीलाल गोस्वामी, बलदेवप्रसाद मिश्र, रामप्रताप शर्मा 'नरदेव', विट्ठलदास नागर, कुमारसिंह, मिट्ठूलाल मिश्र, श्यामसुन्दर वैद्य, लालजीसिंह, मथुराप्रसाद शर्मा, जयरामलाल रस्तोगी, जयरामदास गुप्त, रामप्रसाद सत्याल, बलभद्रसिंह, कृष्णप्रकाशसिंह अखौरी आदि के ऐतिहासिक प्रसंग लेकर लिखे गए उपन्यास निम्न कोटि के ही कहे जा सकते है। केवल बजनन्दनसहाय का 'लालचीन' (१६१६) जिसमे गयासुद्दीन बलवन के एक गुलाम की कहानी वर्णित की गई है और मिश्रबन्धुओं का 'वीरमणि' ही (सन् १६१७) जिसमें अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौर पर चढ़ाई को पृष्ठभूमि बनाकर एक काल्पनिक प्रसंग की रचना की गई है, उपन्यास-कला और ऐतिहासिकता की दृष्टि से यत्किंचित् महत्त्व के उपन्यास कहे जा सकते हैं। किन्तु तब तक प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (१६१८ ई०) प्रकाशित हो चुका था, जिससे हिन्दी-उपन्यास आधुनिक स्तर पर उठ आया था।

इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जिन प्रेमाख्यानक अथवा सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि हुई उनका स्तर भी बहुत साधारण है। प्रेमाख्यानक उपन्यासों में काव्य-रीति की शृङ्गार-भावना को अपनाकर नायिकाओं

के हाव-भावों का रीतिबद्ध वर्णन करने की प्रवृत्ति अधिक है, जीवन की मार्मिक भावनाओं के चित्रण की नहीं। सामाजिक उपन्यासों मे उन दिनों सामाजिक कुरीतियों के दृश्य उपस्थित करके स्त्री-पुरुष सभी को लम्बे-लम्बे उपदेश झाड़ने की प्रवृत्ति इतनी मुखर थी कि उसमें कला को कहीं स्थान न था। इसीलिए *किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामजी शर्मा, शिवचन्द्र भरतिया, गिरजानन्द तिवारी, लक्ष्मीनारायण गुप्त, जगन्नाथ मिश्र, रामलाल, काशीप्रसाद* आदि अनेकानेक लेखकों के प्रेमाख्यानक उपन्यास और *गोपालराम गहमरी, मुरलीधर शर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, शारदाप्रसाद शर्मा, लज्जाराम शर्मा, कमलाप्रसाद, लोचनप्रसाद पाण्डेय, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बलदेवप्रसाद मिश्र, लाला जीदास, गयाचरण त्रिपाठी, लालाराम शर्मा, महादेवप्रसाद मिश्र, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, ओंकारनाथ, शिवनाथ शर्मा, जगतचन्द रमोला, योगेन्द्रनाथ, हरस्वरूप पाठक, व्रजनन्दन सहाय*, आदि दर्जनों लेखकों के सामाजिक उपन्यास आज बीते युग की वस्तु लगते हैं, जिनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।

इसके साथ ही, यह भी ध्यान मे रखने योग्य बात है कि हिन्दी मे बँगला तथा दूसरी भाषाओं से उपन्यासों का अनुवाद करने की प्रवृत्ति भारतेन्दु के समय से ही चल पड़ी थी। भारतेन्दु के समकालीन *प्रतापनारायण मिश्र* और *राधाचरण गोस्वामी* ने कई उपन्यासों के अनुवाद किये थे। फिर तो अनुवादों का क्रम कुछ ऐसा शुरू हुआ कि मौलिक लेखकों ने भी अनुवाद किये। *गदाधरसिंह* ने 'बंग-विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी', *रामकृष्ण वर्मा* ने 'चित्तौर-चातकी', और बाबू *कार्तिकप्रसाद खत्री* ने 'इला', 'प्रमिला', 'जया' और 'मधुमालती' आदि का अनुवाद किया। बाद में *बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चण्डीचरण सेन, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र* और *राखालदास बन्दोपाध्याय* और *रवीन्द्रनाथ ठाकुर* के बँगला उपन्यासों, तथा अनेक उर्दू, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी के श्रेष्ठ उपन्यासों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए। इस

संक्षिप्त सूची से भी यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द से पहले हिन्दी मे मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनूदित उपन्यासों का स्तर ही अधिक ऊँचा था। इस वैषम्य का अन्त प्रेमचन्द ने आकर किया।

प्रेमचन्द (१८८०—१९३६ ई०) के उपन्यासों में विशाल जन-जीवन, विशेष रूप से उत्तर भारत के किसान और मध्यवर्ग का जीवन, और उसकी बहुमुखी समस्याएँ कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित हुई हैं। उन्होने जिस समय साहित्य-रचना आरम्भ की उस समय राष्ट्रीय जागरण उस मंजिल में पहुँच गया था जब वातावरण मे भी क्रान्ति, आन्दोलन और राष्ट्रीय एकता के सन्देश मँडराते फिरते है, उनकी प्रतिध्वनि सुनाई देती और संघर्ष-पथ को अपनाने के संकेत दिखाई देते है। महान् प्रतिभाओं के प्रस्फुटन के लिए ऐसा अनुकूल वातावरण, जिसमे कलाकार सहज ही युग-जीवन और उभरते हुए युग-सत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके जीवन की वास्तविकता के मर्मस्थल तक पहुँच जाय और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके, सामाजिक जीवन के इतिहास मे विरल ही प्राप्त होता है। रवीन्द्र, शरत्, इकबाल की तरह प्रेमचन्द को भी अपनी प्रतिभा के पूर्ण विकास के लिए ऐसा ही अनुकूल राष्ट्र-जीवन का एकता-विधायक साम्राज्य-विरोधी वातावरण मिला था। हम पहले कह चुके हैं कि राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलनो के माध्यम से हुई थी। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज ने मध्यवर्ग के असन्तोष को पुनरुत्थानवादी मार्ग पर भटकाया था। परन्तु इसका यह शुभ परिणाम भी हुआ था कि सामाजिक कुरीतियो पर खुलकर आक्रमण होने लगा था। दूसरी ओर अकाल और महामारियों की आवृत्ति आये-वर्ष होने लगी थी। जनता का असन्तोष नगरों मे कट्टर राष्ट्रवाद और गाँवों मे जमींदार-किसान संघर्षो के रूप मे व्यक्त होने लगा था। और सन् १९०४-५ मे लार्ड कर्जन की बंग-भंग की नीति की प्रतिक्रिया से बंगाल ही नही, सारे देश मे साम्राज्य-विरोध की एक प्रचण्ड लहर दौड़ गई थी। देश के मंच पर एक नई शक्ति की उद्भावना हो रही थी—जनता के संगठित साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन की, जिसने विचार और

भावना के नये सीमान्त खोल दिए। नगरों मे आतंकवादी क्रान्तिकारियों के दल संगठित होने लगे और मेज़िनी और गैरीबाल्डी की उत्प्रेरक कथाएँ और जीवनियाँ पढ़ी जाने लगीं।

अंग्रेजी राज का शोषण-दमन तो था ही, सामाजिक जीवन मे कुछ ऐसे परिवर्तन भी हो रहे थे, जिन्होंने सामन्ती जीवन-मूल्यों पर आघात किया था। परन्तु उनके स्थान पर जो नये समाज-सम्बन्ध और जीवन-मूल्य पैदा हो रहे थे उनकी आत्मा अति-व्यावसायिकता और स्वार्थपरता के कारण और भी ज्यादा कलंकित थी। धर्म, दान, शील, सत्यनिष्ठा, संयुक्त पारिवारिक जीवन की निःस्वार्थ एकता आदि के स्थान पर एक महाजनी सभ्यता का पंजा मजबूत होता जा रहा था, जिसमें प्रेम, न्याय, भ्रातृ-प्रेम, पारिवारिक स्नेह आदि सभी कुछ धन की तुला पर तुलने लगा था, धोखाधड़ी, झूठ, खुशामद और बाह्याडम्बर ही जिसमे सांसारिक उन्नति के साधन बन गए थे। पारिवारिक जीवन, शिक्षालय, अदालत-कचहरी और दफ्तर—कोई भी इस महाजनी सभ्यता के संक्रमण से अछूते न बचे थे। हर तरफ़ व्यावसायिकता का बोलबाला था। उद्योग-धन्धों का कुछ-न-कुछ विकास तो हो ही चला था। औद्योगिक सभ्यता ने प्राचीन ग्रामीण जीवन की ऐकान्तिक निश्चलता, पारिवारिक व्यवस्था और शताब्दियो पुराने सामाजिक सौहार्द्र की भावना को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया था, और नगरों में क्या, गाँवों में भी वैयक्तिक सम्बन्धों का स्थान पैसा लेने लग गया था। व्यक्ति इस यान्त्रिक सभ्यता में मशीन का एक पुर्ज़ा-मात्र बनता जा रहा था। पारिवारिक सम्बन्धो के साथ-साथ मानवीय भावनाओं का भी दम घुटने लगा था।

भारतेन्दु के समय मे भी इस परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे थे, किन्तु तब तक उनका विकराल पूँजीवादी रूप प्रकट न हो पाया था, जिससे उन्होंने और उनके समकालीन लेखकों ने एक ओर तो समाज-सुधार की भावना से इन परिवर्तनों का स्वागत किया, दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता की अनुकरण-वृत्ति को अपने तीखे व्यंगों का शिकार भी बनाया। लेकिन

प्रेमचन्द के समय में समस्या का रूप इतना सरल न रह गया था। पूरे समाज और व्यक्ति के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में नये और पुराने मूल्यों का वैषम्य बढ़कर भयंकर रूप धारण कर चुका था। राष्ट्रीय जीवन की इस अन्तर और बाह्य प्रक्रिया के मध्य प्रेमचन्द की कला का विकास हुआ। उनका सवेदनशील हृदय चतुर्दिक फैली लूट-खसोट, पाखण्ड, अन्याय, असमता और क्षुद्रता को देखकर विद्रोही हो उठा। उन्होने परिस्थितियो के निर्मम चक्र मे पिस-चुसकर मनुष्य के जीवन और आत्मा को कुण्ठित, मलिन और विशृङ्खलित होते देखा, साथ ही इतिहास की उन उभरती हुई शक्तियों को भी पहचाना जो जीवन के प्रति मनुष्य की आस्था को नये आदर्शो, मानवीय जीवन-मूल्यो और लक्ष्यो का दरस देकर नया जीवन-दान ही नही दे रही थी, बल्कि उसे नये सघर्ष-पथो पर भी अग्रसर कर रही थी। प्रेमचन्द की सहानुभूति परम्परागत आदर्शवादी समाज-सम्बन्धो के प्रति तो थी, किन्तु उन्होने एक सच्चे कलाकार की तरह समग्र भारतीय जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। प्रारम्भ मे उनकी यह प्रवृत्ति अवश्य थी कि वे कृत्रिम रूप से सामाजिक समस्याओ के आदर्शवादी समाधान अपने उपन्यासो मे भी भर देते थे, किन्तु बाद मे एक कलाकार की वस्तु-निष्ठा उनके आदर्शवादी विचारक पर विजय प्राप्त करती गई। 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक का उनका विकास वस्तुतः आदर्शवाद से यथार्थवाद तक की मंजिल तय करने का इतिहास है।

अपनी इसी वस्तु-निष्ठा के कारण हिन्दी मे प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो अपने समस्त पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती उपन्यासकारों की अपेक्षा प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (Types) के निर्माण मे सफल हुए हैं। उनके प्रतिनिधि मानव-चरित्र हर वर्ग और क्षेत्र के हैं। किसी भी उपन्यासकार या नाटककार की महानता की एक कसौटी यह भी होती है कि उसने प्रतिनिधि मानव-चरित्रो (Types) के निर्माण में कितनी सफलता पाई है। प्रतिनिधि मानव-चरित्रों का निर्माण तभी सम्भव है जब लेखक मे इतनी कलात्मक प्रतिभा हो कि वह पात्रों के रूप में अपने प्रतिरूप ही न गढ़े और

उनसे मनचाहा व्यवहार और वार्तालाप ही न कराये, बल्कि अपनी कल्पना से जिन घटनाओं की सृष्टि करे उनका पात्र उनमे पड़कर स्वतन्त्र रूप से अपनी भूमिका खेले, पात्र की प्रतिक्रियाएँ, व्यवहार, वार्तालाप उसके जीवन की परिस्थितियो से निर्दिष्ट हो, लेखक की इच्छा-अनिच्छा से नियन्त्रित न हो। प्रेमचन्द के पात्र ऐसे ही सजीव, प्रतिनिधि मानव-चरित्र है। इनमें भारत के शोषित-पीड़ित किसान भी है और उनकी कमाई पर पलने वाले जमीदार और नवाब भी; गरीब चमार, जुलाहे, दस्तकार और क्लर्क भी हैं और महाजन और साहूकार भी; अन्धविश्वासी, निरीह धर्म के उपासक भी है और बगुला-भगत पण्डे-पुरोहित भी; राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं और सरकारी अफसर-अहलकार और जी-हजूर भी। प्रेमचन्द ने एक कलाकार की निरपेक्षता से इन सबको जीवन-वास्तव की पृष्ठभूमि में रखकर चित्रित किया है और भारतीय जीवन के भीतर सत् और असत्, न्याय और अन्याय, शोषित और शोषक के बीच चलने वाले उस बहुमुखी संघर्ष की अनिवार्यता को उद्घाटित कर दिया है जो आधुनिक युग की सबसे बड़ी वास्तविकता है। किसी के चरित्र को उन्होंने अपनी ओर से मानवीय या दानवी बनाने की चेष्टा नही की, बल्कि एक सच्चे कलाकार की तरह प्रत्येक पात्र के उदात्त और अनुदात्त, उदार और क्षुद्र तथा सुन्दर और कुरूप पहलुओ को उभारना चाहा है। किन्तु फिर भी यदि पाठक की सहानुभूति एक पात्र के साथ होती है और असहानुभूति दूसरे के साथ, तो इसलिए कि उनके जीवन की परिस्थितियो ने उन्हे विपरीत ऐतिहासिक भूमिकाएँ खेलने को बाध्य कर रखा है। जो जमीदार है, वह अपनी सभ्यता के बावजूद शोषण करेगा ही और जो किसान है, वह अपनी निपट मूर्खता के बावजूद अन्न उपजाकर भौतिक मूल्यों की सृष्टि करेगा ही, और उन मूल्यो से वंचित किये जाने पर प्रत्येक संवेदनशील हृदय मे सहानुभूति और आक्रोश जगाएगा ही।

प्रेमचन्द का सबसे पहला उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' (प्रेमा) है जो सन् १९०४ मे प्रकाशित हुआ था, और दूसरा उपन्यास 'जलवये ईसार' (वरदान) है जो सन् १९१२ में निकला। उन दिनों प्रेमचन्द 'नवाबराय'

के नाम से उर्दू में लिखा करते थे। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास 'सेवा-सदन' सन् १६१८ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद 'प्रेमाश्रम' (१६२१), 'रंगभूमि' (१६२२), 'कायाकल्प' (१६२४), 'निर्मला' (१६२८), 'प्रतिज्ञा' (१६२६), 'ग़बन' (१६३१), 'कर्मभूमि' (१६३२) और अन्त में 'गोदान' (१६३६) में प्रकाशित हुए।

कला की दृष्टि से 'सेवासदन' ही प्रेमचन्द का पहला प्रौढ़ उपन्यास है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना का एक मार्मिक और यथार्थ चित्र है। एक स्कूल-मास्टर अपनी नियत और थोड़ी आमदनी से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ है, पर समाज में अपनी सफेदपोशी रखने के लिए बाध्य है। उस पर यौवन की उमंगें और विलास की लालसा भी तीव्र है। यह समस्या एक जर्जर पतित समाज में उसे और उसके परिवार को कितने भीषण आत्म-दाह में जलाती है, किन-किन पतित मार्गों पर भटकाती है—नागरिक जीवन और संस्कृति के इस खोखलेपन का विशद चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। 'प्रेमाश्रम' इसके विपरीत, ग्राम-जीवन की समस्याओं और संघर्षों का विशाल चित्र है। ग्राम-जीवन में अपनी सामाजिक उपयोगिता खोकर जमींदार या सामन्त-वर्ग किस प्रकार कुलीनता की लाज का रक्षक और शोषण, स्वार्थ और विलास का केन्द्र बन गया है तथा किसान शोषण की चक्की में पिसकर दरिद्र, निरीह और निर्जीव होकर भी अपनी संगठित शक्ति के बल पर इस विषम व्यवस्था को चुनौती देने के लिए तत्पर होता जा रहा है, इस उपन्यास की मूल कथावस्तु इस केन्द्रीय विचार पर आधारित है। 'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सबसे बड़ा उपन्यास है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ नहीं। तो भी यह उनके प्रमुख उपन्यासों में से है। इसका घटनास्थल काशी और उसके पास का गाँव पाण्डेपुर है, स्वयं प्रेमचन्द जहाँ के निवासी थे। इसका प्रधान पात्र एक अन्धा सूरदास है।

पूँजीवाद का संक्रमण ग्रामों में किस प्रकार होता है, और वहाँ पर पूँजीवाद के पाँव पड़ते ही कितने पातक और अनाचार फैलते हैं, अत्याचार बढ़ते है और किसानों में किस तरह जागृति के चिह्न प्रकट होते हैं,

इस उपन्यास की कथावस्तु इतनी ही है। किन्तु इसके माध्यम से उन्होंने न केवल पूँजीवाद के उत्थान और पतन का चित्र खीचा है बल्कि समग्र भारतीय जीवन का विशाल चित्र उपस्थित कर दिया है। हर वर्ग और जीवन के हर क्षेत्र के पात्रों का चित्रण इसमे हुआ है।

'कायाकल्प' प्रेमचन्द का सबसे कमजोर उपन्यास है और उनकी अपनी परम्परा के विपरीत है, यद्यपि आध्यात्म की ओर भी उनका झुकाव था। 'कायाकल्प' मे उन्होने योगाभ्यास, पुनर्जन्म और कायाकल्प के आधिभौतिक पचड़ो को लेकर एक कहानी गढ़ने की कोशिश की है, किन्तु इसमे उन्हे सफलता नही मिली। 'निर्मला' वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम और विमाता की मनोवैज्ञानिक समस्याओ का चित्र है। 'प्रतिज्ञा' की समस्या विधवा-विवाह से सम्बन्धित है। 'गबन' में प्रेमचन्द ने पुनः निम्न मध्यवर्ग की विडम्बनाओं का चित्रण किया—आभूषणो की लालसा, गृह-कलह, पतन। यह चित्र अपने-आप मे सम्पूर्ण है। 'कर्मभूमि' साधारण कोटि का राजनीतिक उपन्यास है, जिसमे असहयोग-आन्दोलन से उमड़ी जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना और संघर्ष का चित्रण है। परन्तु 'गोदान' प्रेमचन्द का ही नहीं हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमे प्रेमचन्द ने पुनः ग्राम-जीवन की पृष्ठभूमि मे जमींदार-किसान-समस्या का विशद् चित्रण किया है। किन्तु इस बार किसी आदर्शवादी समाधान को लेकर उन्होने जमींदार-किसान संघर्ष के चित्र पर अन्त मे पर्दापोशी नहीं की, बल्कि जमींदार के निर्दय शोषण और किसान के धरती, जीवन और उसकी मर्यादाओं से चिपटे रहने की अदम्य क्षमता का पूर्णतः यथार्थ चित्र दिया है, और होरी के रूप में भारतीय किसान के एक ऐसे प्रतिनिधि चरित्र का निर्माण किया है जो विश्व-साहित्य मे भी बेजोड़ है। 'गोदान' सर्वथा एक यथार्थवादी उपन्यास है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला ने जब प्रौढ़ता प्राप्त की, वह हमारे राष्ट्रीय जागरण के पूर्व प्रस्फुटन का काल था। इसके बाद लगभग बीस बरसो तक, पहले महायुद्ध की समाप्ति से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक, साहित्य और कला के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व रचनात्मक क्रियाशीलता और उन्मेष का दौर

चला, जिसने हमारे गद्य और काव्य-साहित्यों के धरातल को ही ऊँचा नहीं उठाया, बल्कि सच्चे अर्थों मे एक गौरवपूर्ण राष्ट्रीय काव्य, साहित्य और कला की परम्परा गढ़ी और उसके उदात्त मानववादी प्रतिमान स्थिर किये। विदेशी साम्राज्य की गुलामी से मुक्ति पाने के लिए सारी कौम विद्रोह और संघर्ष के पथ पर अग्रसर थी। जनता का साम्राज्य-विरोधी आक्रोश अक्सर नेताओं द्वारा निर्दिष्ट असहयोग-आन्दोलन की संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता था। साम्राज्यवादी दमन और भेदनीति के अमोघ अस्त्र भी जनता के जोश को कुचलने मे समर्थ न हो रहे थे। ऐसे अदम्य उत्साह के वातावरण में, स्वाभाविक है कि हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों और कलाओं के क्षेत्र में युगावतारी प्रतिभाओं का विकास होता। उनके युगान्तरकारी विचारों की प्रतिध्वनि सहज ही जन-मानस मे होती थी, जिससे श्रेष्ट कला के विकास और पाठकों-द्रष्टाओं-श्रोताओं तक उनके मन्तव्यों और नये जीवन-मूल्यों को वस्तु-चित्रों, इतिहास और जीवन की भाषा मे उपस्थित करने वाली रचनाओं का प्रेषण सहज-सम्भाव्य हो गया था। रवीन्द्र, शरत्, इकबाल, प्रेमचन्द, निराला, जोश, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, प्रसाद, पन्त, उस्ताद फैयाज खाँ आदि ऐसी ही प्रतिभाएँ उभरी, जिन्होंने अपनी-अपनी कलाओं के माध्यम से न केवल समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित करने की कोशिश की, बल्कि नये जीवन-मूल्यों की सृष्टि करके मनुष्य के खण्डित व्यक्तित्व को सम्पूर्ण और उसके आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाने की भी कोशिश की। इस काल के मनुष्य की समग्र वेदना, पीड़ा, आशा-निराशा, हर्ष, उल्लास, कमजोरी, शहजोरी, इच्छा, आकांक्षा, स्वप्न और संकल्प उनकी कृतियों की मूर्त भाषा मे गुँथे हुए हैं। इसीलिए आधुनिक साहित्य और कला के इतिहास में इस उत्थान का आत्यन्तिक महत्त्व है। राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य तो दीखने लगा था, और उसकी प्राप्ति के लिए सामान्य चेष्टा भी होने लगी थी, लेकिन अन्दर राष्ट्रीय जीवन मे पूरी एकता न थी। विभिन्न वर्ग, जातियाँ और स्वार्थ, इतिहास-चक्र को अपने मनचाहे पथ पर मोड़ने मे सचेष्ट थे, जैसे

आज भी हैं। इस अन्तर्विरोध के परिणामस्वरूप साहित्य और कला के क्षेत्र मे भी विभिन्न प्रवृत्तियों का जन्म हो चला था। प्रसाद-पन्त-निराला का 'छायावाद' और प्रेमचन्द का यथार्थवाद तो थे ही, छायावाद की विकृति मनोवैज्ञानिक-यथातथ्यवाद, व्यक्तिगत कुण्ठावाद और प्रतीकवाद के रूप में और यथार्थवाद की विकृति प्रकृतवाद (Naturalism) के रूप मे होनी शुरू हो गई थी। ये प्रवृत्तियाँ यत्र-तत्र उभरकर सामने आने लगी थीं।

प्रेमचन्दकालीन क्रियाशीलता और उत्कर्ष के फलस्वरूप अनेक छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ सजग होकर हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का भण्डार भरने लगी। इनमे *ब्रजनन्दन सहाय* (सौन्दर्योपासक १६१६), *जयशंकर प्रसाद* (कंकाल, तितली, इरावती), *अवधनारायण* (विमाता १६२३), *शिवपूजनसहाय* (देहाती दुनिया १६२५), *चतुरसेन शास्त्री* (हृदय की परख १६१८, व्यभिचार, अमर अभिलाषा, आत्मदाह, नीलमती, वैशाली की नगर-वधू आदि), *विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक'* (माँ, भिखारिणी) *पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'* (दिल्ली का दलाल १६२७, चन्द हसीनो के खतूत, बुधुआ की बेटी, शराबी, चण्टा, सरकार तुम्हारी आँखो मे), *चण्डीप्रसाद हृदयेश* (मनोरमा, मंगल प्रभात), *प्रतापनारायण श्रीवास्तव* (विदा १६२८), *राधिकारमण प्रसाद सिंह* (तरंग १६२१, राम-रहीम, पुरुष और नारी आदि), *मन्नन द्विवेदी* (रामलाल १६१७, कल्याणी), *जी० पी० श्रीवास्तव* (गंगा-जमुनी, दिलजले की आह), *वृन्दावनलाल वर्मा* (गढ़ कुण्डार, विराटा की पद्मिनी, कुण्डली चक्र, महारानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी आदि), *भगवतीप्रसाद वाजपेयी* (मीठी चुटकी १६२७, अनाथ पत्नी, त्यागमयी, प्रेम-विवाह, पतिता की साधना, दो बहनें, निमन्त्रण, चलते-चलते आदि), *ऋषभचरण जैन* (वेश्या-पुत्र, गदर, अपराधी, मास्टर साहब आदि), *कृपानाथ मिश्र* (प्यास १६३२) *जैनेन्द्रकुमार* (परख १६३०, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त), *इलाचन्द्र जोशी* (घृणामयी, पर्दे की रानी, प्रेत और छाया, संन्यासी, निर्वासित और मुक्ति-पथ) *गोविन्दवल्लभ पंत* (प्रतिभा, मदारी,

प्रगति की राह आदि), *सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'* (अप्सरा १९३१, अलका, लिली, निरूपमा, प्रभावती, चिल्लेसुर बकरिहा, कुल्ली भाट, चोटी की पकड़) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रेमचन्द के अन्तिम दिनों या बाद के अनेक उपन्यासकारों में प्रमुख नाम ये हैं : *भगवतीचरण वर्मा* (तीन वर्ष, चित्र लेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव), *सियारामशरण गुप्त* (नारी १९३८, गोद) *सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'* (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप), *यशपाल* (दादा कामरेड, देश-द्रोही, दिव्या, पार्टी कॉमरेड, मनुष्य के रूप), *राहुल सांकृत्यायन* (जय यौधेय, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न), *उपेन्द्रनाथ 'अश्क'* (सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गरम राख), *पहाड़ी* (सराय, चलचित्र), *हज़ारीप्रसाद 'द्विवेदी'* (बाणभट्ट की आत्म-कथा), *अंचल* (चढ़ती धूप, मरु-प्रदीप), *सर्वदानन्द वर्मा* (नरमेध, निकट की दूरी, आनन्द-निकेतन आदि), *गुरुदत्त* (उन्मुक्त प्रेम, बहती रेता, विडम्बना), *अनूपलाल मंडल* (निर्वासित, समाज की वेदी पर, गरीबी के दिन, अभिशाप आदि), *उदयशंकर भट्ट* (वह जो मैंने देखा, नये मोड़), *रामचन्द्र तिवारी* (सागर, सरिता, अकाल, सोना और नर्स), *रांगेय राघव* (घरौंदे, मुर्दों का टीला, सीधे-सादे रास्ते, चीवर आदि), *अमृतलाल नागर* (सेठ बाँके मल), *हंसराज रहबर* (धरती की बेटी, उपहास), *मन्मथनाथ गुप्त* (होटल द ताज, दुश्चरित्र, रक्तक-भक्तक), *धर्मवीर भारती* (गुनाहों का देवता, सूरज का सातवाँ घोड़ा), *भैरवनाथ गुप्त* (मशाल, गंगा मैया), *नागार्जुन* (बलचनमा), *विष्णुप्रभाकर* (ढलती रात), *डा० देवराज* (पथ की खोज) और *शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'* (बहती गंगा) आदि।

इनमें से 'प्रसाद' और 'कौशिक' को छोड़कर और सभी लेखक जीवित हैं, और उनका रचना-क्रम जारी है। यह सूची केवल महत्त्वपूर्ण उपन्यास-कारों और उपन्यासों की है। प्रेमचन्दकालीन तथा बाद के उपन्यासों का धरातल प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों की तुलना में सामान्यतः ऊँचा रहा है। विषय-वस्तु, रचना-तन्त्र, शैली और भाषा-सभी दृष्टियों से ये उपन्यास

प्रथम महायुद्ध से पहले के उपन्यासों से श्रेष्ठ हैं।

जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें उन्होंने निर्भीकता से स्त्री-पुरुष के प्रेम की एक मौलिक समस्या का मार्मिक उद्घाटन किया है। विवाह की पवित्रता उसकी भावना में है, केवल सामाजिक बंधन में नहीं, अतः उसका आधार भावना ही हो। इस प्रकार 'कंकाल' भारतीय नारी-जीवन की दुर्दशा और कुण्ठा पर गहरा विद्रूप है। तारा दलित नारी-जाति के विद्रोह का प्रतीक है। तारा के शब्दों में, "मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकट्ठा न किया·····पर किया प्रेम ही।" यह एक सोद्देश्य उपन्यास है, पर साथ ही कलात्मक भी। इसकी शैली प्रसाद के नाटकों की शैली से भिन्न, यथार्थ चित्रण के अधिक निकट है, यद्यपि भाषा अलंकृत अवश्य है। प्रसाद के अन्य उपन्यास 'तितली' और 'इरावती' महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक उपन्यास-लेखन में प्रेमचन्द के अनुयायी थे। परन्तु न उपन्यासकार की हैसियत से और न कहानी-लेखक की हैसियत से ही वह प्रेमचन्द की ऊँचाई तक पहुँच सके। उनके उपन्यास 'माँ' और 'भिखारिणी' में प्रेम, त्याग और मातृत्व की भावना का चित्रण हुआ है। उनके संवाद स्वाभाविक तथा दैनिक बोलचाल की भाषा से लिये गए हैं। फिर भी कुल मिलाकर उपन्यास साधारण हैं।

जीवित लेखकों में प्रेमचन्द के समय से लिखते आने वाले चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा तथा प्रेमचन्द के बाद के 'अज्ञेय', यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ही वर्तमान हिन्दी, उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में गिने जाते हैं, यद्यपि भगवती प्रसाद वाजपेयी, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रांगेय राघव के नाम भी इस सम्बन्ध में उतने ही उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों में उपन्यास-लेखन की कोई एक ही पारिपाटी नहीं मिलती, और न प्रवृत्ति ही। साथ ही, इनमें से हरेक ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का आकलन करने के लिए न्यूना-

धिक मात्रा मे उपन्यास-कला को विकसित या विकृत भी किया है और उसे नई-नई दिशाओं मे मोड़ा है और अपने प्रयोगों द्वारा नये-नये औपन्यासिक क्षेत्रों का परिशोषण किया है और कर रहे हैं। अतः उनकी कृतियों का साधारण प्रवृत्यात्मक परिचय ही दिया जा सकता है, पूरा मूल्यांकन अभी सम्भव नही, यद्यपि इतना निर्विवाद है कि इनमे से किसी की प्रतिभा प्रेमचन्द को नहीं छू पाई, और न किसी ने 'गोदान' के पैमाने पर समग्र भारतीय जीवन का विशाल चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न ही किया।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' वास्तव मे उग्र प्रतिभा लेकर साहित्य मे आये। आपने फ्रान्सीसी उपन्यासकार जोला की तरह समाज के कुत्सित अंगों और वर्जित पहलुओं का निर्भीक होकर चित्रण किया। वेश्यावृत्ति तथा सभ्य समाज के बाह्यावरण के नीचे छिपी अन्य घृणित तथा घातक कुरीतियों को आपने अपनी आवेगपूर्ण, धड़ल्लेदार शैली मे उधाड़कर सामने रख दिया। आलोचकों और सम्पादकों ने आप पर 'घासलेटी' (अर्थात अश्लील) साहित्य की रचना करने का आरोप लगाया। वास्तव मे यह अश्लीलता तो तथाकथित थी। परन्तु आपके व्यंग्यो की चोट सोद्देश्य थी। इसलिए आपकी रचनाएँ जनता मे हाथोंहाथ बिकी। आपके उपन्यासों मे 'बुधुआ की बेटी', जिसमें एक अछूत बालिका के जीवन का करुण चित्रण है, सम्भवतः आपकी सबसे अच्छी कृति है।

चतुरसेन शास्त्री ने भी पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह समाज की कुत्सित प्रवृत्तियो और परोक्ष मे चलने वाले भ्रष्टाचारों के बीभत्स चित्र दिये है। उदाहरण के लिए 'हृदय की प्यास' मे आपने विधवा-आश्रमों में छिप-छिपकर होने वाले दुराचारो का नग्न चित्रण किया है। वासना मनुष्य को कहाँ तक पशुता के गर्त मे खीच ले जा सकती है, इसका सजीव वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। शास्त्रीजी की भाषा मे ओज और प्रवाह तो है लेकिन लेखनी मे आत्म-संयम का अभाव है, जिससे नग्न चित्रणों को भरने के लिए वे कथा के स्वाभाविक प्रवाह को विशृङ्खल करके फालतू प्रसंग ले आते है। इसीलिए आपके उपन्यास साधारण स्तर से अधिक ऊपर नही उठ

पाते। हाल ही में प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' अपेक्षया अधिक सुगठित रचना है।

वृन्दावनलाल वर्मा एक सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। आपने अपने उपन्यासों में अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड के इतिहास को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की है। अंग्रेजी के ऐतिहासिक उपन्यासकार स्कॉट (Sir Walter Scott) की तरह आपके उपन्यासों में भी यथार्थ-चित्रण के साथ-साथ रोमान्स और आदर्शवाद की पुट रहती है। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'महारानी लक्ष्मीबाई' तथा 'मृगनयनी' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'कुण्डली-चक्र' और 'प्रत्यागत' अधिक प्रसिद्ध हैं। भाषा-शैली और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से आप प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा के बाद राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रांगेय राघव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। द्विवेदीजी ने ऐतिहासिकता और औपन्यासिक मार्मिकता दोनों का सफल निर्वाह किया है।

जैनेन्द्रकुमार सम्भवतः प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दूसरे सबसे श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं; साथ ही विषय-वस्तु, शैली, प्रवृत्ति, भाषा तथा अन्य सभी दृष्टियों से आपका क्षेत्र प्रेमचन्द से भिन्न और मौलिक है। जैनेन्द्रकुमार ने समग्र देश और उसके सर्वत्र फैले ग्रामों को अपनी विषय-वस्तु नहीं बनाया, बल्कि नगरों की गलियों में बसने वाले शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों के भीतर व्यक्ति-जीवन में उठने वाली मनोवैज्ञानिक समस्याओं को—उन समस्याओं को जो व्यापक जीवन में सामंजस्य न पाने से आत्मपीड़क कुण्ठाओं और असन्तोषों को जन्म देती हैं—आपने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। चित्रण के क्षेत्र को इतना सीमित रखने के कारण ही आप व्यक्ति के आभ्यंतरिक जीवन में प्रेमचन्द से भी अधिक गहरे उतर सके हैं। जैनेन्द्र की भाषा और शैली भी अपनी है। उसमें प्रेमचन्द की-सी सहज स्वाभाविकता नहीं, किन्तु संक्षिप्त कथन की चुस्ती और तीव्र मार्मिकता अवश्य अधिक है।

आपने पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को आधारभूत मानकर परख, सुनीता, त्यागपत्र और कल्याणी में, मध्यवर्ग के जीवन में यह समस्या विभिन्न स्तरों पर किस रूप में उठती है, इस तथ्य को चित्रित किया है। परख की कट्टो, पति-प्रेम तथा त्याग की एक मूर्ति, एक आदर्श नारी है। भौतिक सीमाओं से उठकर वह अफ़लातूनी आध्यात्मिक स्तर पर प्रेम करती है। विधवा रहकर भी सधवा बनी रहती है। सामाजिक जीवन में पग-पग पर अपमान सहकर भी उसकी आत्मा विद्रोह नहीं करती, क्योंकि उसने अपने अहंकार और हृदय के साथ-साथ अपने प्रेम का भी उत्सर्ग कर दिया है। परन्तु 'सुनीता' इतनी गहरी आध्यात्मिक आदर्श-भावना के आवरण में वेष्टित रचना नहीं है। उसमें मानवीय दुर्बलताओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है। सुनीता और हरि-प्रसन्न दोनों के चरित्रों में एक असाधारणता है जो पाठक को आरोपित-सी लगती है। मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी नारी को जब पुराने संकीर्ण वातावरण में ही मनमाने आचरण की छूट मिल जाती है तो किसी भी असामान्य पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसकी मनःस्थिति कितने भयंकर अन्तर्द्वन्द्व का अखाड़ा बन जाती है—एक ओर पुरानी मान्यताएँ पाँव पकड़ती हैं तो दूसरी ओर हृदय की लालसाएँ नये अनुभव की उत्तेजनाओं का रस लेने को धकेलती हैं; तृप्ति और सन्तोष जीवन में दुर्लभ हो जाते हैं; इस उपन्यास की यही समस्या है। 'त्यागपत्र' यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक श्रेष्ठ उपन्यास है। अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट मृणाल आत्म-रक्षा और स्वतन्त्र जीवन-यापन के लिए सामाजिक बन्धनों से संघर्ष करती है, किन्तु कठोर और विकराल परिस्थितियों के भँवर में फँसकर उसका एक रोगिणी के रूप में बीभत्स और दारुण अन्त होता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में घटनाओं का ताना-बाना नाम-मात्र को, केवल आवश्यक भर होता है। आप अपने उपन्यासों में समस्या उठाते हैं और समस्या पर ही उनका अन्त करते हैं; समाधान के प्रत्यक्ष या परोक्ष इशारे भी नहीं देते। जीवन एक अनबूझ पहेली बन जाता है, इसी से आपके उपन्यासों में एक रहस्यात्मकता या दुरूहता का आभास मिलता है। जैनेन्द्र

समाज को तोड़-फोड़ या बदलकर नहीं, बल्कि उसको ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके, अपने को निरीह और छोटा बनाकर और आत्म-पीड़ा में ही सुख तलाश करके एक दुःसाध्य आध्यात्मिक सामंजस्य की टोह करते हैं। फिर भी आपने जीवन के कतिपय मौलिक प्रश्न उठाये हैं, जिससे साहित्य को आपकी देन स्थायी है।

इलाचन्द्र जोशी फ्रॉयड के मनोविश्लेषण, विज्ञान की पुस्तकों में दिये गए रुग्ण-मानस के व्यक्तियों के ब्यौरों से अपने उपन्यासों की कथावस्तु लेते हैं और फिर दृष्टान्त रूप में काल्पनिक पात्रों की उद्भावना करके उन्हें अपने चातुर्दिक सामाजिक जीवन में स्थापित करके कथा-सूत्र का निर्माण करते हैं। सामाजिक जीवन का वैषम्य व्यक्ति की काम-वासनाओं का दमन करता है और उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को कुण्ठित, जिससे परितृप्ति और परितृप्ति के साधारण मार्ग बन्द होने पर मन की अवचेतन और अर्धचेतन गुफाओं में ये वासनाएँ उमड़ती-घुमड़ती फूत्कारती रहती है, और मातृ-रति, स्व-रति और आत्म-केन्द्रित हीन-भावना जैसी 'कॉम्प्लैक्सों' को पैदा करके मनुष्य को विक्षिप्त और असामाजिक प्राणी बना देती हैं। 'फ्रायड' के इन्हीं सिद्धान्तों का चर्वित-चर्वण इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मिलता है। व्यक्ति मानस के अज्ञात कोनों में दबी पड़ी इन काम-प्रवृत्तियों का अध्ययन तथा चित्रण ही आपका उद्देश्य है। इसीलिए आपके पात्र समाज के नैतिक बन्धनों से विद्रोह करके, पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पाशविक और हिंस्र रूप में मानव-जीवन के समस्त पुनीत और मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए, केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि और काम-तृप्ति करते फिरते हैं। आपका उपन्यास 'प्रेत और छाया' ऐसे व्यक्ति की हीन प्रवृत्तियों का बीभत्स उदाहरण पेश करता है। उपन्यास का हीन-भावनाओं से ग्रस्त नायक पारसनाथ पिता के यह बताने पर कि वह उनका अवैध पुत्र है, विक्षिप्त हो उठता है। अपनी माँ के सतीत्व भंग होने की बात जानकर वह समस्त स्त्री-जाति के सतीत्व पर ही सन्देह नहीं करने लगता, बल्कि सबका सतीत्व खण्डित करने को उद्धत हो जाता है। फिर एक-एक करके वह अनेक स्त्रियों का सतीत्व हरण करता

फिरता है। इसमें उसे पाशविक आनन्द मिलता है। किन्तु अन्त में ज्यों ही उसे पता चलता है कि पिता की बात गलत थी, और उसकी माँ साध्वी थी, त्यों ही वह आत्म-ग्लानि से भर जाता है और एक वेश्या से विवाह करके गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगता है। ऐसे बीभत्स मनोवैज्ञानिक तिलिस्म जोशीजी के अन्य उपन्यासों में भी मिलते हैं। इधर अपने अन्तिम उपन्यास 'मुक्ति-पथ' में आपने दिशा बदली है। किन्तु जितने यान्त्रिक ढंग से आपने अपने विक्षिप्त पात्रों की कुत्सित काम-चेष्टाओं का पहले उपन्यासों में चित्रण किया है, उतनी ही यान्त्रिकता से 'मुक्ति-पथ' के राजीव को केवल देशोद्धार और श्रम में लगे एक भावना-हीन, प्रेम और काम से घृणा करने वाले अपरिग्रही अर्ध-मानव के रूप में आदर्श मण्डित करके विकसित किया है।

भगवतीचरण वर्मा भी इलाचन्द्र जोशी की तरह फ्रॉयड से प्रभावित उपन्यासकार हैं और उसी यान्त्रिक ढंग से अपने पात्रों पर अपनी मान्यताएँ थोपते और उनसे मनचाहा व्यवहार करवाते चलते हैं। मनुष्य के विक्षिप्त, कुरूप, बीभत्स, अमानवीय, स्वार्थपर अवसरवादी रूप के आप चित्रकार हैं। केवल आपका तथाकथित ऐतिहासिक उपन्यास 'चित्रलेखा' इसका अपवाद है। किन्तु वह एक मौलिक कृति दीखते हुए भी उतनी मौलिक नहीं है, बल्कि फ्रेन्च उपन्यासकार अनातोल फ्रान्स के विश्वविख्यात उपन्यास 'थाया' पर आधारित है। उसमें प्राचीन वातावरण में पाप, पुण्य, प्रेम, वासना आदि के प्रश्नों पर विचार किया गया है। चित्रलेखा का चरित्र उदात्त दिखाया गया है। समाज जिन्हें 'भोगी' समझता है, वास्तव में वही 'योगी' होते हैं। केवल मनुष्य के दृष्टिकोण का वैषम्य पाप और पुण्य की पृथक् परिकल्पनाएँ करता है, अन्यथा दोनों एक हैं, या देश-काल सापेक्ष हैं। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र या यशपाल की तरह वर्माजी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत जीवन की कोई मौलिक समस्या नहीं उपस्थित करते, जिससे आपके उपन्यासों का वातावरण इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों की तरह कृत्रिम और पात्र यंत्र-चालित से दीखते हैं। आपके उपन्यास 'तीन वर्ष' में नई सभ्यता की चकाचौंध से पथ-भ्रष्ट हुए रमेश के भोग-विलास, जूआ-

शराब, वेश्यागमन और मानसिक अशान्ति और विक्षिप्तता का निरुद्देश्य चित्रण है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वर्मा जी ने राजनीतिक तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि का विशाल आडम्बर रचकर मनुष्य की देश-भक्ति, मानवप्रेम तथा दूसरी उदात्त भावनाओं के मूल में स्वार्थपरता, अधमता और हिंस्रता की सत्ता ही सिद्ध करनी चाही है और प्रेम, न्याय और समता के आदर्शों की हीनता सिद्ध करने के लिए समस्त प्रगतिशील विचारधाराओं पर आक्रमण किया है और अन्त में यह सिद्ध किया है कि मुक्ति का कोई मार्ग नहीं; सभी स्वार्थ-सिद्धि के टेढ़े-मेढ़े-रास्ते है। वस्तुतः वर्मा जी ने इस उपन्यास में राष्ट्रीय जागरण की उदात्त परम्पराओं को ठुकराकर सामन्त वर्ग की हिमायत की है, और वह भी गांधीवाद की आड़ लेकर। जमींदार रामनाथ और उनके तीन बेटों की यह लम्बी, नीरस और प्रकृतवादी कहानी हिन्दी-उपन्यास के विकास में ह्रास और विकृति की मिसाल है। इसी प्रकार वर्माजी का 'आखिरी दाँव' अत्यन्त साधारण उपन्यास है। उसमें एक जुआरी के निष्फल-प्रेम को फिल्मों के-से रंगीन तिलिस्मी वातावरण में चित्रित किया गया है।

'अज्ञेय' इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा की परम्परा के लेखक हैं, किन्तु उनसे अधिक सशक्त और परिष्कृत भाव-चेतना के उपन्यास-कार हैं। आप पर मुख्यतः फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और अंग्रेजी के कवि टी० एस० ईलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेंस का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी-आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा का अनुमान है कि अज्ञेय ने फ्रायड लारेंस आदि से उपादान लेकर अंग्रेजी उपन्यासकार कोनार्ड की प्रत्यग्दर्शन शैली में 'शेखर : एक जीवनी' को लिखा है, लेकिन उनका प्रयोग असफल हुआ है। 'शेखर' का स्थापत्य तो कमजोर है ही, लेखक अपने प्रधान पात्र के साथ आवश्यक निर्लिप्तता भी नहीं बरत पाया, जिससे उसका स्वतन्त्र चरित्र-निर्माण भी नहीं हो सका। 'शेखर : एक जीवनी' में उसकी बाल्यकाल से लेकर यौवनकाल तक की आत्मकथा है। शेखर प्रारम्भ से अहंभावना, भय तथा 'सेक्स' की जिज्ञासाओं से आक्रान्त है। माता-पिता उसकी जिज्ञासाओं को दबाते हैं तो उसकी आत्मा विद्रोही बन जाती है।

समाज, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, सबके प्रति उसके मन में तीव्र अनास्था पैदा होती है। सबसे पहले अपनी बहन सरस्वती के प्रति वह आकृष्ट होता है, किन्तु सामाजिक मर्यादा के अनुसार बहन ऐसे आकर्षण-क्षेत्र से वर्जित है। इसके बाद शेखर के जीवन में एक-एक करके कई नारियाँ आती हैं। शशि से तो उसकी गहरी आत्मीयता भी है। किन्तु वह आतंकवाद के जुर्म में गिरफ्तार कर लिया जाता है। उसके मन मे इसकी प्रतिक्रिया एक बौद्धिक घृणा का स्वरूप लेती है। वह हर प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को हेय समझकर उनसे विरक्त हो जाता है। रिहा होने पर पता लगता है कि शशि का विवाह हो गया है। पति उसे जब त्याग देता है तब वह पुनः शेखर पर अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है, किन्तु शेखर अब पहले का शेखर नही रहा —वह नारी मात्र से विमुख हो चुका है। शशि बेचारी तपेदिक से घुल-घुलकर प्राण देती है, और इस प्रकार शेखर का 'विद्रोहीपन' प्रमाणित हो जाता है।

शेखर विद्रोही है—'सृष्टि के प्रति, क्योंकि वह अधूरी और अपूर्ण है; समाज के प्रति, क्योंकि वह संकीर्ण है; समस्त रीतियो तथा संस्थाओ के प्रति ···अपने व्यक्तित्व के प्रति···' इस असामाजिक, अराजक, उद्धत और उच्छृंखल विद्रोह का कही अन्त नही। किन्तु व्यवहार मे शेखर विद्रोही नही है। वह एक कुण्ठित, घोर आत्म-केन्द्रित, अन्तर्मुखी पात्र है जो अपनी कुण्ठित भावनाओ की छानबीन करने मे ही लीन रहता है। अपने मन के भीतर वह जितना बड़ा विद्रोह-सत्व है, बाह्य-जीवन में वह उतना ही अवसरवादी और आत्म-भीरु भी है। वर्तमान जीवन की विषमताओं ने ऐसे कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व पैदा किये हैं, इसमे सन्देह नहीं, और यदि अज्ञेय ने एक कलाकार की निस्संगता बरतकर अपनी ओर से शेखर को एक अति-मानव की थोथी महिमा से मण्डित न किया होता, तो सचमुच 'शेखर' आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या का श्रेष्ठ और यथार्थ चित्र बन जाता। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' एक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। कोई मौलिक समस्या यहाँ भी नहीं है। भुवन और रेखा, भुवन और गौरा का

प्रणय-व्यापार, कहीं कोई मनोवैज्ञानिक पेचीदगी या समस्या नहीं उठाता। भुवन भी शेखर ही की तरह असाधारण और महान् है, और रेखा और गौरा उसके प्रति समर्पित होने में और भुवन यथावसर रेखा, फिर गौरा के प्रति समर्पित होने में ही जीवन की चरम सार्थकता पाते हैं। इस अर्पण-प्रत्यार्पण के बीच कहीं कोई बाह्य या आन्तरिक बाधा नहीं आती और ईलियट और लारेंस की अंग्रेजी कविताओं के उद्धरणों की आवृत्ति-प्रत्यावृत्ति के बीच सुरम्य स्थानों के रोमानी वातावरण में तन-मन के 'समर्पण' का यह व्यापार निर्विघ्न घटित भी होता जाता है। किन्तु फिर भी 'नदी के द्वीप' एक कलाकृति नहीं बन पाया, क्योंकि इसमें हिन्दी के प्रौढ़तम गद्य की छटा के अतिरिक्त पाठक को वास्तविक जीवन का स्पर्श कहीं नहीं मिलता; उसमें जीवन का कोई सत्य उद्घाटित नहीं होता।

यशपाल प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के समर्थ कथाकार हैं। आपने उपन्यास के माध्यम से युग-जीवन और उसके संघर्षों को आकलित करने का प्रयत्न किया है। एक कथाकार के रूप में यशपाल का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़कर सामने रखता रहा है। इसके लिए आपमें एक यथार्थवादी कलाकार की निस्संगता, और संयम भी पर्याप्त है। आप अपने यथार्थवाद में प्रेमचन्द की तरह आदर्श का नहीं, रोमान का संयोग करते हैं, जो सब जगह सफल नहीं हुआ है, कथा पर आरोपित या उसमें चेपक की तरह जुड़ा हुआ लगता है। इसीलिए कुछ आलोचक आप पर 'राजनीतिक रोमान्स' लिखने का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः बात यह है कि आपने अपने मार्क्सवादी दृष्टि-कोण के व्यापक सांस्कृतिक और सौन्दर्य पक्ष को उतना नहीं पहचाना जितना आर्थिक पक्ष को, जिससे आप मनुष्य की समस्त समस्याओं को स्थूल 'शिश्नोदर' की समस्या के रूप में संकीर्ण बना देते हैं। इसीसे आपके यथार्थवाद की सीमाएँ बँध जाती हैं, और आपको अपनी कथाओं को मनोरंजक बनाने के लिए नग्न-प्रसंगों की भरती करनी पड़ती है। शरत्चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'पथेर दावी' के जवाब में लिखे आपके उपन्यास 'दादा

कामरेड' में शैल को नग्न करने का प्रसंग कुछ ऐसा ही है। जैनेन्द्र ने भी 'सुनीता' को एक स्थान पर नग्न करवाया है। यशपाल के 'देशद्रोही' में मध्यवर्ग के एक बुद्धिजीवी का चित्र है जो अपनी अनेक मानसिक उलझनों के बावजूद मजदूर आन्दोलनों की ओर आकृष्ट होता है। नायक खन्ना सीमाप्रान्त में फ़ौजी अस्पताल में डाक्टर है। कबीले द्वारा अपहृत किये जाने पर वह पठानों के बीच रहता है, पठान सुन्दरियों से प्रेम करता है, लेकिन उसकी आत्मा 'व्यक्ति से समाज की ओर' जाने के लिए छटपटाती है। वह रूस भाग निकलता है; लौटकर कानपुर के मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व सँभालता है। पठान सुन्दरियों के प्रेम में आत्मविस्मृति की मदिरा थी, शान्ति नहीं। शान्ति मिली उसे चन्दा के प्रेम में। किन्तु चन्दा विवाहिता थी। डा० खन्ना की बीमारी में उसकी परिचर्या करने के कारण उसे अपने पति से लांछित और अपमानित होना पड़ता है। डा० खन्ना तड़प-तड़पकर प्राण दे देता है। देशद्रोही एक सशक्त और सुगठित उपन्यास है और मध्यवर्ग के जीवन पर पूरी रोशनी डालता है। अपनी समस्त कुण्ठाओं और सीमाओं के बावजूद डा० खन्ना का चरित्र उदात्त है, और पाठकों की सहानुभूति खींचता है। 'दिव्या' यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास है। बौद्धधर्म के ह्रास, वर्णाश्रम धर्म के पुनरुत्थान, ब्राह्मणों के षड्यन्त्र और दासों के विद्रोह की प्राचीन सामन्ती पृष्ठभूमि में यशपाल ने नारी चरित्र का विकास दिखाया है। सामन्ती समाज में नारी केवल वासना-पूर्ति का साधन है। केवल वेश्या ही स्वतन्त्र नारी है। 'दिव्या' जनपद कल्याणी मल्लिका की शिष्या है। पृथुसेन, रुद्रधीर और चार्वाक मारिश तीनों दिव्या के प्रणय-प्रार्थी है। वह पृथुसेन को आत्म-समर्पण करती है। किन्तु पृथुसेन गणपति की पौत्री से विवाह कर लेता है, और गर्भवती दिव्या एक मास विक्रेता के हाथों में जा पड़ती है। बौद्ध संघ उसे शरण नहीं देता। आत्महत्या का प्रयत्न भी विफल होता है। विवश हो उसे वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है। मल्लिका उसे वापस ले जाकर कला की अधिष्ठात्री बनाती है, पर समाज को यह सह्य नहीं होता। वह नगर के बाहर की पान्थशाला में शरण लेती

है। तीनों प्रेमी फिर याचक बनकर सामने आते हैं। भिक्षु पृथुसेन उसे 'संघ की अपार करुणा' का वचन देता है। आचार्य रुद्रधीर उसे 'महादेवी' का आसन देने को तत्पर है। पर चार्वाक मारिश 'नारीत्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है··· सन्तति की परम्परा के रूप में अमरत्व दे सकता है।' दिव्या उसे ही स्वीकार करती है। 'दिव्या' की काल्पनिक कथा को ऐतिहासिकता का वातावरण देने के लिए यशपाल ने अत्यन्त परिश्रम से एलोरा-अजन्ता के चित्रों तथा उस युग की शब्दावली, वेश-भूषा आदि का अध्ययन किया है। किन्तु 'दिव्या' में यह 'आश्रय के आदान-प्रदान' की उदात्त लगने वाली भावना यशपाल के अगले उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में नारी-समस्या पर लेखक का एकांगी 'दृष्टिकोण' बनकर सामने आती है। 'मनुष्य के रूप' की सामाजिक पृष्ठभूमि विस्तृत है। घटनाओं का चित्रण बहुत-कुछ यथार्थवादी शैली में है। उपन्यास की नायिका सोमा कांगड़े जिले की एक गरीब तरुण विधवा है। पति युद्ध में मारा गया है। ससुराल में यातनाएँ भोगकर उसका जीवन असह्य हो उठा है। धनसिंह ड्राइवर से प्रेम होने पर वह उसके साथ भाग निकलती है। फिर आश्रय का मूल्य चुकाने के लिए बैरिस्टर साहब और बम्बई पहुँचकर बरकत ड्राइवर को भी आत्म-समर्पण करती है। फिर वेश्यावृत्ति के असफल प्रयत्नों के बाद फ़िल्म जगत की 'हीरोइन' बन जाती है और डायरेक्टर सुतली वाला के साथ उसका विवाह तय हो जाता है। वह इस सामाजिक सुरक्षा के वातावरण में अपने अतीत को अपनाने से इन्कार करती है, और युद्ध और जेल से रिहा होकर लौटे धनसिंह को पहचानती भी नहीं। यशपाल का कहना है कि "मौजूदा समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी जीवन-यापन के लिए एक आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है।" यह आश्रय उसे रूप-विक्रय से ही सुलभ होता है।

यदि इस एकांगी दृष्टिकोण का आरोप हटाकर देखा जाय तो 'मनुष्य के रूप' आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या को उद्घाटित करता है।

पूँजी की सत्ता वाले समाज में 'प्रेम' की निष्कलुष मानवीय भावना किस प्रकार विकृत होकर व्यावसायिक रूप धारण कर लेती है, 'मनुष्य के रूप' इसका सजीव चित्र है ।

उपेन्द्रनाथ अश्क भी प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासकार हैं। उनका पहला उपन्यास 'सितारों के खेल' था जिसकी कथावस्तु रोमानी है। किन्तु 'गिरती दीवारें' में रोमानी वातावरण की जगह जीवन के कठोर यथार्थ ने ले ली है। इसमें निम्न मध्यवर्ग के जीवन का व्यापक चित्रण है। 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का उसी तरह प्रतीक है जिस तरह गोदान का होरी भारतीय किसान का प्रतीक है। चेतन एक ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि-ग्रस्त परिवार में पैदा हुआ जहाँ 'चीकने पात' वाले 'होनहार बिरवा' भी जीवन की दुर्द्धर्ष [illegible] दीवारें देते हैं।

की मूर्ति माँ लज्जावती, नवागत यौवन और सौन्दर्य से दीप्त नीला, सरल-हृदया पत्नी चन्दा, धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सजीव, और मार्मिक है। साथ ही इलावलपुर, जालन्धर, लाहौर और शिमला के उन स्थानों का वर्णन भी अत्यन्त सजीव है जहाँ पर उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नवीनतम उपन्यास 'गरम राख' है जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

संक्षेप में हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का यही परिचय है। प्रेमचन्द के बाद हमारे राष्ट्रीय-जीवन की विसंगतियाँ और भी उभरकर सामने आ गई हैं, जिससे वह पहले जैसी सर्वजनीन ऐक्य-भावना नहीं रही। इस विशृङ्खलता और वैषम्य के वातावरण में हमारा कथा-साहित्य अनेक विरोधी प्रवृत्तियों की राहों में बँट गया है। कोई सामान्य लक्ष्य और उद्देश्य नहीं है, इसीलिए जनवादी और जनद्रोही, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, सामाजिक और अराजक प्रवृत्तियाँ उपन्यास-साहित्य में विभिन्न लेखकों के अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अभिव्यक्ति पा रही हैं और आपस में टकरा रही हैं। हमारा राष्ट्रीय जागरण एक संक्रान्तिकालीन दुर्भि सन्धि के अन्तर्द्वन्द्व में फँसकर अपनी पूर्णाभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहा है।

५

हिन्दी कहानी

उपन्यास की तरह 'कहानी' गद्य-साहित्य का कोई नया रूप-विधान नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से मनुष्य की प्रत्येक जाति में कहानियों की सृष्टि होती आई है, चाहे मौखिक लोक-कथाओं के रूप में या लिखित साहित्यिक कहानियों के रूप में। इन प्राचीन कहानियों से आधुनिक कहानी का क्रमागत सम्बन्ध भी ढूँढ़ा जा सकता है। प्राचीन कहानियाँ साधारण वर्णनात्मक शैली में सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को संक्षेप में उपस्थित करती थीं। उनमें कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण, किसी विशेष मानसिक द्वन्द्व या स्थिति का चित्रण कम होता था। उन्हें सुनकर कहानी कहने वाले ने 'क्या कहा', इस जिज्ञासा ही की पूर्ति होती थी, लेकिन 'कैसे ढंग से कहा' इस पर विशेष ध्यान न जाता था। नीति, व्यवहार तथा जीवन के स्थूल पर सारपूर्ण घटना-संवलित व्यापारों तथा मनोगत भावों के सहारे ही कलात्मक रीति से कहानी कह दी जाती थी और इस प्रकार मनोरंजन के साथ-साथ उसके द्वारा नीति, धर्म या जीवन के किसी सत्य या रहस्य का उद्घाटन, प्रतिपादन या प्रचार किया जाता था। स्पष्ट ही 'आधुनिक कहानी' में भी ये तत्त्व यत्किंचित् मात्रा में मिलते हैं, जिसके आधार पर हम प्राचीन कहानी से आधुनिक कहानी के क्रमागत सम्बन्ध खोज सकते हैं। किन्तु 'आधुनिक कहानी' का उद्देश्य, कथावस्तु, रचनातन्त्र, शैली, ढंग, सभी कुछ बदल चुका है। अब कहानी का क्षेत्र अतीत में 'क्या हुआ था' की जगह आज हमारे बाह्य और आन्तरिक जीवन में 'क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, क्यों हो रहा है' आदि हो गया है। इस मूलभूत परिवर्तन से उसके पाठक की जिज्ञासाओं में भी परिवर्तन आ गया है। पाठक आज कहानी के माध्यम से जीवन-मर्म की गहरी-

से-गहरी अभिव्यक्ति और अनुभूति प्राप्त करना चाहता है।

कहानी क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कहानी की परिभाषा देकर नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रवाहमान जीवन की तरह 'कहानी' मे भी, जो जीवन की किसी मार्मिक घटना, मनोगत भावना, अनुभव या सत्य को चयन और अतिरंजन की कलात्मक रीति से संक्षेप में प्रतिबिम्बित करती है, इतनी विविधता आ गई है कि उसे किसी सरल परिभाषा मे बाँधना असम्भव है। कहानी की सबसे बड़ी परिभाषा यह है कि वह 'कहानी' है, गल्प नहीं है, मात्र घटना का चित्रण नही है, रेखाचित्र, उपन्यास और नाटक भी नहीं है। कहानी गल्प नही है, क्योंकि गल्प एक सरल विवरण-मात्र होता है। हम दिल्ली से कलकत्ते गये, इस यात्रा के मात्र विवरण को 'कहानी' नहीं कह सकते। परन्तु इस 'यात्रा' को कलाकार कहानी के रूप मे ढाल सकता है, यह यात्रा कहानी का उपकरण बन सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनका यथा-तथ्य सिलसिलेवार विवरण ही कहानी नही बन जाता, लेखक को इस विवरण मे से सार्थक प्रसंगों का चयन करके उन्हे कहानी के रूप में ढालना पड़ता है। इसीलिए कहानी मात्र घटना या वार्तालाप का ज्यों-का-त्यों अंकन नहीं है, न केवल चुटकला है कि सुना दिया और हास्य का उद्रेक हो गया, क्योंकि चुटकले मे कथा-वस्तु का जटिल उद्घाटन और नाटकीय प्रभाव सम्भव नहीं है। कहानी रेखाचित्र भी नही है, क्योंकि रेखाचित्र में किसी चित्र का अंकन ही प्रधान होता है, लेकिन कहानी में पृष्ठभूमि का चित्र कार्य-व्यापार के संघटन और विकास के लिए ही आवश्यक होता है, अतः उसका स्थान गौण है। यह कार्य-व्यापार अनिवार्यतः बाह्य स्थूल जीवन से ही सम्बन्ध रखता हो, यह जरूरी नहीं। कहानी अपने घटना-विन्यास और कार्य-व्यापार के उद्घाटन के लिए मनुष्य के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को भी उतनी ही सफलता से चुन सकती है। कहानी 'उपन्यास' भी नही है क्योंकि उपन्यास का क्षेत्र समग्र जीवन है, कहानी मनुष्य के समग्र जीवन में से केवल किसी एक मार्मिक घटना को ही अपना विषय बनाती है। इसी प्रकार कहानी नाटक नहीं है, यद्यपि उसमे नाटकीय तत्त्व होते हैं।

किसी निर्णायक घटना-सूत्र की ओर कहानी की कथा भी अनुधारित होती है। किन्तु नाटक की कथा को मूलतः नाटकीय होने की जरूरत होती है और नाटककार को केवल 'संवादों' के द्वारा कार्य-व्यापार का विकास और कथानक का उद्‌घाटन करना होता है। कहानीकार कथा को अपने उद्देश्य के अनुरूप जहाँ चाहे मोड़-तोड़ सकता है और घटनाओं और पात्रों को वातावरण की पृष्ठभूमि के सूक्ष्म प्रभावों से जैसे चाहे तैसे उभार सकता है। अतः इन सब से इतर कहानी क्या है, यह जानने के लिए किसी सरल परिभाषा का आश्रय लेने की जरूरत नहीं है। कहानीकार की अपनी रुचि, जीवनानुभव की विशिष्टता, सूक्ष्मदर्शिता और व्यापकता के अनुसार कहानी कहने के अनेक ढंग, उद्देश्य और शैलियाँ हो सकती हैं। यद्यपि हिन्दी की 'आधुनिक कहानी' को विकसित हुए लगभग चालीस वर्ष ही हुए हैं, फिर भी उनमें इतनी विविधता है कि उनकी चारित्रिक विशेषताओं को एक सूत्र में बताना असम्भव है। ऐसी कहानियाँ भी हैं जो नीति और उपदेश की हैं, और इस सीमा तक प्राचीन कहानियों के तत्त्व उनमें अधिक हैं; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें बाह्य सामाजिक जीवन की कोई समस्या उपस्थित की गई है, या आन्तरिक जीवन पर उसका प्रभाव दिखाया गया है; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें स्थानीय वातावरण और रंग अधिक मुखर हैं; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें मनुष्य की कल्पना की उड़ान दिखाई गई है या किसी मनोवैज्ञानिक संघर्ष को चित्रित किया गया है; और ऐसी भी हैं जिनमें विभिन्न परिस्थितियों में पड़े मनुष्यों के मनोभावों का आकलन हुआ है या पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसी प्रकार कहानी में प्रतिपाद्य विषय के प्रति कहानीकार के दृष्टिकोण और शैलियाँ भी विविध हो सकती हैं। कोई कथा-वस्तु को रोमांटिक ढंग से उपस्थित करता है तो कोई यथार्थवादी ढंग से; कोई मनोवैज्ञानिक ढंग से तो कोई प्रकृतवादी, यथातथ्यात्मक रीति से। इसके अतिरिक्त जीवन के प्रति लेखक का दृष्टिकोण आशावादी या निराशावादी भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्बाह्य जीवन और प्रवृत्ति के किसी भी क्षेत्र से कथावस्तु के उपादान चुनकर कहानीकार कहानी का

निर्माण और उसके माध्यम से जीवन-मर्म का उद्घाटन और आकलन कर सकता है। शर्त केवल इतनी है कि कहानी बनने के लिए उसमें 'कहानीपन' होना चाहिए। यह 'कहानीपन' क्या है? इसकी कोई शास्त्रीय व्याख्या या 'कहानीपन' लाने का कोई सरल नुस्खा पेश करना न यहाँ प्रासंगिक होगा, और न उचित ही, क्योंकि अन्ततः यह कहानीकार की क्षमता, व्यापक जीवनानुभव, संवेदनशीलता और सत्यान्वेषी दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह साधारण घटनाओं के बीच से अर्थवान और मार्मिक प्रसंगों को चुनकर किस प्रकार कलात्मकता से उपस्थित करे कि वह कहानी बन जाय। उससे मनोरंजन भी हो, चेतना को स्फूर्ति और प्रेरणा भी मिले और पाठक की संवेदना जीवन के किसी सत्य की अनुभूति करके अधिक मानवीय और समृद्ध भी बने।

हिन्दी में आधुनिक कहानी की परम्परा का सूत्रपात और विकास जयशंकरप्रसाद की कहानी 'ग्राम' और प्रेमचन्द की कहानी 'पंच परमेश्वर' से होता है। प्रसाद की कहानी सन् १९११ में 'इन्दु' में छपी थी और प्रेमचन्द की कहानी सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। 'ग्राम' और 'पंच परमेश्वर' की अन्तरावधि में *राधिकारमणप्रसादसिंह, विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक'* और *चन्द्रधर शर्मा गुलेरी* भी क्रमशः 'करनों का कँगना' (१९१३), रक्षा-बन्धन (१९१३) और 'उसने कहा था' (१९१५) लेकर कहानी-जगत् में अवतीर्ण हो चुके थे, किन्तु इस प्रवृत्ति की कहानियों को वास्तविक उत्कर्ष दिया प्रेमचन्द ने ही और ये कहानीकार प्रेमचन्द के अनुगामी बने न कि प्रेमचन्द इनके। हम अन्यत्र बता चुके हैं कि आधुनिक युग के प्रारम्भ से पहले उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में *इन्शा अल्ला खाँ* ने 'रानी केतकी की कहानी' (१८०३) लिखी थी। कुछ लोग इसे ही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कहते हैं, और तभी से हिन्दी-कहानी के विकास की परम्परा स्थापित करने की चेष्टा में 'उत्थानों' 'प्रत्यावर्तनों' की बात करते हैं। 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानने में हमें आपत्ति नहीं है। लेकिन इससे न हिन्दी-कहानी की अविच्छिन्न परम्परा शुरू होती है और न

इसे 'आधुनिक कहानी' की कोटि में ही रख सकते हैं। इसलिए इंशा की कहानी को आरम्भ-बिन्दु बनाकर हिन्दी-कहानी के 'उत्थानों-प्रत्यावर्तनों' की बात चलाना व्यर्थ है। पूरी उन्नीसवी शताब्दी मे केवल एक-दो कहानियाँ ही और लिखी गईं। एक राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की उपदेशात्मक कहानी 'राजा भोज का सपना' और दूसरी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हास्य-रस प्रधान कहानी 'अद्भुत अपूर्व सपना'। इसके बाद यद्यपि उपन्यास अनेक लिखे गए, लेकिन कहानी बीसवी शताब्दी मे आकर ही लिखी गई। सन् १९०० में प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू हो गया था, जिसका सम्पादन आगे चलकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया और हिन्दी भाषा और साहित्य के हर क्षेत्र मे एक क्रान्ति ला दी। १९०० मे सरस्वती मे किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई जो शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की कथा पर आधारित थी। तदनन्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३), श्रीमती बंग महिला की 'दुलाई वाली' (१९०७), 'जम्बुकी न्याय' (१९०९), वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखी बन्द भाई' (१९०९), मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' (१९०९) और 'निन्यानवे का फेर' (१९१०) आदि कहानियाँ 'सरस्वती' मे प्रकाशित हुईं। किन्तु इनमें कितनी मौलिक थी, कितनी नही, इस पचड़े मे न भी पड़े, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि इन कहानियों मे 'आधुनिक कहानी' के तत्त्व मौजूद नहीं थे और न इनमें से किसी लेखक मे प्रथम कोटि के कहानीकार की प्रतिभा ही थी कि हिन्दी में नई कहानी की परम्परा का सूत्रपात और विकास करता। इसलिए कहानी-क्षेत्र के इन मौलिक या अनुकरण मूलक प्रयोगों को यदि प्रारम्भिक मान लें, जैसा कि सर्वथा उचित होगा, तो हिन्दी में 'आधुनिक कहानी' का सूत्रपात और विकास करने का श्रेय जयशंकरप्रसाद और प्रेमचन्द को है। यहाँ इतना उल्लेख कर देना और जरूरी है कि प्रसाद और प्रेमचन्द ने जिस समय कहानी लिखना शुरू किया, उस समय हिन्दी में बंगला कहानियों का दौर-दौरा था। अनुवाद होकर रवीन्द्र और शरत् की कहानियाँ सर्वत्र चाव से पढ़ी जाती थीं। अंग्रेजी और रूसी कहानियों

के अनुवाद भी छपने लगे थे।

सन् १६११-१६ से लेकर आज तक हिन्दी में सहस्रों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। हिन्दी पाठकों की रुचि स्वाभाविक रूप से कहानी पढ़ने की ओर रही है, जिससे मासिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं की बात तो अलग, दैनिक पत्रों मे भी धड़ाधड़ कहानियाँ छपती आई हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो केवल कहानियों की ही हैं। शायद ही कोई हिन्दी का लेखक हो, जिसने कुछेक कहानियाँ न लिखी हों। सैकड़ो लेखकों की कहानियों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। कहानी-साहित्य के इस विपुल भण्डार में यदि अधिकतर केवल सस्ते मनोरंजन के लिए लिखी गई अनगढ़ और तत्त्व-हीन रचनाएँ हैं तो सैकड़ो कहानियाँ ऐसी भी है जिन पर किसी भी भाषा के साहित्य को गर्व हो सकता है। यदि सैकड़ो कहानीकारो की सूची में अधिकतर साधारण कोटि के या नवसिखियों के नाम हैं तो सच्ची प्रतिभा के श्रेष्ठ कलाकार भी हैं जिन्होंने अपनी रचनाओ से हिन्दी कहानी को विश्व की अन्य उन्नत भाषाओ के कहानी-साहित्य की-सी प्रौढ़ता और समृद्धि प्रदान की है।

सन् १६११-१६ से लेकर आज तक के कहानी-साहित्य के विकास को उनके रचना-क्रम का विवरण देकर उपस्थित करना, या प्रत्येक उल्लेखनीय कहानीकार या कहानी-संग्रह का विवेचन करना एक दुःसाध्य कार्य है, और अपेक्षित भी नही। कहानी के निर्माण-क्षेत्र की इतनी तेज सरगरमी के बावजूद यह स्मरण रहे कि केवल थोड़े ही प्रथम कोटि के ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने अपनी असाधारण रचनात्मक प्रतिभा से हिन्दी कहानी को विकास की अभिनव दिशाओं मे मोड़ा है या उसे नई दृष्टि, शैली और क्षेत्र प्रदान किये हैं। ऐसी सर्वांगीण प्रतिभाओ में जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्रकुमार और यशपाल हैं। अन्य दूसरे कहानीकार, जिनमें कई प्रथम कोटि के हैं और कई द्वितीय श्रेणी के तथा अधिकांश अनुल्लेखनीय रूप से साधारण अथवा अतिसाधारण कोटि के, सीमित अर्थों में ही मौलिक हैं। अधिकतर उन्होंने प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र,

जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय आदि द्वारा विकसित और निर्धारित की हुई कथा-वस्तु, जीवन-दृष्टि, शैली और टेकनीक की सीमाओं में बँधकर ही कहानियों की रचना की है। ऐसा भी हुआ है कि किसी-किसी ने इन सभी पद्धतियों को अपनाकर प्रयोग किये है, किन्तु ऐसा उन्होंने ही किया है जिन्हे अभी साहित्य की उपलब्धि नहीं हुई है और कहानी के क्षेत्र मे जिनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही बन पाया है। ऐसे प्रथम और द्वितीय कोटि के कहानीकारों मे चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'पहाड़ी', 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' 'निराला', 'राधाकृष्ण', 'विष्णु प्रभाकर' और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि हैं। हिन्दी-कहानी का अध्ययन अन्ततः इन कहानीकारों की रचनाओं का अध्ययन है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी कहानी-साहित्य के विकास और संवर्धन मे राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, बाबू शिवपूजनसहाय, पं० ज्वालादत्त शर्मा, विनोदशंकर व्यास, शिव-नारायण द्विवेदी, जनार्दन झा द्विज, डा० धनीराम 'प्रेम', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', गोविद-वल्लभ पन्त, श्रीनाथसिंह, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो 'वियोगी', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलाकान्त वर्मा, सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय', वीरेश्वर सिंह, वाचस्पति पाठक, देवेन्द्र सत्यार्थी, ऋषभचरण जैन, नरेन्द्र शर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, शिवरानी 'प्रेमचन्द', सुभद्राकुमारी चौहान, होमवती देवी, उषादेवी मित्रा, सुमित्राकुमारी सिन्हा, कमला चौधरी, सत्यवती मल्लिक, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रप्रभादिवेदी आरसीप्रसादसिंह, भुवनेश्वरप्रसाद सिंह, अन्नपूर्णानन्द, रांगेयराघव, अमृतराय, रामचन्द्र तिवारी, प्रभाकर माचवे, कांतिचन्द्र सौनरेक्सा, शमशेर बहादुरसिंह, श्रीकृष्णदास, ओंकार शरत्, भैरव-प्रसाद गुप्त, तेजबहादुर सिंह आदि अनेकानेक कहानीकारो ने महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया है। इन लेखकों की प्रकाशित कहानियों मे यदि संकलन किया जाय तो एक-एक, दो-दो करके प्रथम और द्वितीय कोटि की दर्जनो कहानियाँ

के अनुवाद भी छपने लगे थे।

सन् १६११-१६ से लेकर आज तक हिन्दी मे सहस्रों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। हिन्दी पाठकों की रुचि स्वाभाविक रूप से कहानी पढ़ने की ओर रही है, जिससे मासिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओ की बात तो अलग, दैनिक पत्रो मे भी धड़ाधड़ कहानियाँ छपती आई हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो केवल कहानियों की ही हैं। शायद ही कोई हिन्दी का लेखक हो, जिसने कुछेक कहानियाँ न लिखी हो। सैकड़ों लेखको की कहानियों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। कहानी-साहित्य के इस विपुल भण्डार में यदि अधिकतर केवल सस्ते मनोरंजन के लिए लिखी गई अनगढ़ और तत्त्व-हीन रचनाएँ हैं तो सैकड़ो कहानियाँ ऐसी भी है जिन पर किसी भी भाषा के साहित्य को गर्व हो सकता है। यदि सैकड़ो कहानीकारो की सूची में अधिकतर साधारण कोटि के या नवसिखियो के नाम हैं तो सच्ची प्रतिभा के श्रेष्ठ कलाकार भी हैं जिन्होंने अपनी रचनाओ से हिन्दी कहानी को विश्व की अन्य उन्नत भाषाओ के कहानी-साहित्य की-सी प्रौढ़ता और समृद्धि प्रदान की है।

सन् १६११-१६ से लेकर आज तक के कहानी-साहित्य के विकास को उनके रचना-क्रम का विवरण देकर उपस्थित करना, या प्रत्येक उल्लेखनीय कहानीकार या कहानी-संग्रह का विवेचन करना एक दुःसाध्य कार्य है, और अपेक्षित भी नही। कहानी के निर्माण-क्षेत्र की इतनी तेज सरगरमी के बावजूद यह स्मरण रहे कि केवल थोड़े ही प्रथम कोटि के ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने अपनी असाधारण रचनात्मक प्रतिभा से हिन्दी कहानी को विकास की अभिनव दिशाओं में मोड़ा है या उसे नई दृष्टि, शैली और क्षेत्र प्रदान किये हैं। ऐसी सर्वांगीण प्रतिभाओ में जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्रकुमार और यशपाल हैं। अन्य दूसरे कहानीकार, जिनमें कई प्रथम कोटि के हैं और कई द्वितीय श्रेणी के तथा अधिकांश अनुल्लेखनीय रूप से साधारण अथवा अतिसाधारण कोटि के, सीमित अर्थों में ही मौलिक हैं। अधिकतर उन्होंने प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र,

जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय आदि द्वारा विकसित और निर्धारित की हुई कथा-वस्तु, जीवन-दृष्टि, शैली और टेकनीक की सीमाओं में बँधकर ही कहानियों की रचना की है। ऐसा भी हुआ है कि किसी-किसी ने इन सभी पद्धतियों को अपनाकर प्रयोग किये हैं, किन्तु ऐसा उन्होंने ही किया है जिन्हें अभी साहित्य की उपलब्धि नहीं हुई है और कहानी के क्षेत्र में जिनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं बन पाया है। ऐसे प्रथम और द्वितीय कोटि के कहानीकारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, 'पहाड़ी', 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', 'सूर्यकान्त त्रिपाठी' 'निराला', 'राधाकृष्ण', 'विष्णु प्रभाकर' और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि हैं। हिन्दी-कहानी का अध्ययन अन्ततः इन कहानीकारों की रचनाओं का अध्ययन है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी कहानी-साहित्य के विकास और संवर्धन में राजा राधिकारमणप्रसादसिंह, बाबू शिवपूजनसहाय, पं० ज्वालादत्त शर्मा, विनोदशंकर व्यास, शिव-नारायण द्विवेदी, जनार्दन झा द्विज, डा० धनीराम 'प्रेम', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', गोविद-वल्लभ पन्त, श्रीनाथसिंह, सियारामशरण गुप्त, मोहनलाल महतो 'वियोगी', चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, कमलाकान्त वर्मा, सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय', वीरेश्वर सिंह, वाचस्पति पाठक, देवेन्द्र सत्यार्थी, ऋषभचरण जैन, नरेन्द्र शर्मा, सद्गुरुशरण अवस्थी, शिवरानी 'प्रेमचन्द', सुभद्राकुमारी चौहान, होमवती देवी, उषादेवी मित्रा, सुमित्राकुमारी सिन्हा, कमला चौधरी, सत्यवती मल्लिक, कमला त्रिवेणीशंकर, चन्द्रप्रभा द्विवेदी आरसीप्रसादसिंह, भुवनेश्वरप्रसाद सिंह, अन्नपूर्णानन्द, रांगेयराघव, अमृतराय, रामचन्द्र तिवारी, प्रभाकर माचवे, कांतिचन्द्र सौनरेक्सा, शमशेर बहादुरसिंह, श्रीकृष्णदास, ओंकार शरत्, भैरव-प्रसाद गुप्त, तेजबहादुर सिंह आदि अनेकानेक कहानीकारों ने महत्त्वपूर्ण योग नहीं दिया है। इन लेखकों की प्रकाशित कहानियों में यदि संकलन किया जाय तो एक-एक, दो-दो करके प्रथम और द्वितीय कोटि की दर्जनों कहानियाँ

निकाली जा सकती हैं, और यह कम गर्व की बात नही है। परन्तु साहित्य की परम्परा मे विशिष्ट व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नही है। वैसे छोटी-बड़ी विशेषताएँ तो हरेक मे होती हैं। बड़े राजपथ पर से हर गुजरने वाला अपने पद-चिह्नों की पाँति से दृष्ट या अदृष्ट रूप में एक पगडण्डी तो बनाता ही चलता है, किन्तु राजपथ का निर्माण करने वाले की महत्ता अलग है।

प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र और यशपाल कहानी के राजपथो के निर्माता है। अतः हिन्दी-कहानी के विकास को समझने के लिए इन प्रतिभावान् कलाकारों की जीवन-दृष्टि और रचना-शैली का विवेचन और इनके कृतित्व के सन्दर्भ और पृष्ठभूमि मे रखकर अन्य कहानीकारो की रचनाओ को भी जाँचने की जरूरत है। कहने की जरूरत नही कि हिन्दी-नाटक और हिन्दी-उपन्यास के विकास का अध्ययन राष्ट्रीय जागरण की जिस पृष्ठभूमि में रखकर किया गया है, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि अन्य सभी गद्य-रूपो का विकास उसी पृष्ठभूमि मे हुआ है। अतः उसे दुहराने की जरूरत नही।

यहाँ यह स्पष्ट कर देने की जरूरत है कि हिन्दी-कहानी के कुछ इतिहासकारो ने प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र और यशपाल के नाम पर उनके निश्चित स्कूलो की कल्पना की है और हिन्दी के कहानीकारो का वर्गीकरण इनमे से किसी एक स्कूल के अन्तर्गत रखकर किया है। हम समझते हैं कि स्कूलो का यह वर्गीकरण गलत है। इसलिए नही कि इन पाँच प्रमुख कहानीकारों की रचना-शैली और विचार-प्रवृत्ति मे भेद नही है, बल्कि इसलिए कि अन्य कहानीकार सर्वथा एक ही शैली या प्रवृत्ति का अनुकरण करने वाले नही हैं। पूरी तरह 'अनुकरण' करने वाले कहानीकार कम ही हैं। फिर उन्होंने केवल हिन्दी के इन शीर्ष-स्थानीय कहानीकारों से ही प्रभाव ग्रहण नही किये, बल्कि बँगला के रवीन्द्र, शरत् और फ्रांस के मोपासाँ, ज़ोला, रूस के तुर्गनेव, चेखव, तालस्ताय, द्वास्तोवस्की, गोर्की, अंग्रेजी के टामस हार्डी, डी० एच० लारेंस तथा अनेक दूसरे आधुनिक और वर्तमान

कहानीकारों से भी प्रभाव ग्रहण किये हैं तथा हिन्दी कथा-साहित्य को अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप नई-नई दृष्टियों से निखार-सँवार देने की चेष्टा की है। इसमें वे कभी सफल हुए हैं, कभी असफल। कभी ये प्रभाव स्वस्थ तो कभी अस्वस्थ भी साबित हुए हैं। उन्होंने कहानी के रूप को बनाने-बिगाड़ने में मदद दी है। अतः ऐसे निश्चित स्कूलों और वर्गीकरण की बात—सांस्कृतिक विनिमय के इस स्वच्छन्द वातावरण में—केवल आलोचना की शास्त्रीय रीति-पद्धति का मोह प्रकट करती है। यह अवश्य है कि अनेक कहानीकारों में एक सीमा तक भाव-साम्य, विचार-साम्य और शैली-साम्य भी मिलता है। परन्तु बस इतना ही। इससे निश्चित स्कूलों की सत्ता नहीं सिद्ध होती।

अब हम शीर्ष-स्थानीय हिन्दी कहानीकारों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

जयशंकरप्रसाद (१८९१–१९३७) मूलतः एक रोमाण्टिक (छायावादी) कवि थे। उनकी कहानियों में भी इस काव्यत्व की भाव-कोमल रंगीनी है। प्रसादजी की कहानियों में वातावरण के भावपूर्ण चित्रण पर विशेष जोर है, जिससे पाठक कथा-सूत्र को पकड़कर सहज-वेग से आगे नहीं बढ़ता, बल्कि परिदृश्यों की सौन्दर्य-छटा में उसका मन उलझता, रमता चलता है। उनकी संस्कृत-बोझिल भाषा में यद्यपि प्रवाह पूरा है, फिर भी शैली इतनी अलंकृत और भावमयी है कि घटना-प्रवाह को उससे गति नहीं मिलती। घटना-सूत्र, चरित्र-चित्रण या प्रयोजन उनकी कहानियों में मुख्य वस्तु है भी नहीं। अतः उनकी कहानियों में कहानी और 'कहानीपन' कम, गद्य-काव्यात्मकता अधिक है।

प्रसादजी की कहानियों के पाँच संग्रह उपलब्ध हैं—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल'। उनकी आरम्भिक कहानियों पर बँगला कहानियों का प्रभाव अवश्य है, किन्तु बाद में वह अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। अपने मूलतः रोमाण्टिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने अपनी कहानियों में मानव-हृदय के अन्तःसौन्दर्य को चित्रित करना चाहा है। इससे अधिक कोई स्थूल प्रयोजन उनकी कहानियों

में निहित नही मिलता। व्यक्ति के साधारण जीवन में जो-कुछ मानवीय और असाधारण है, जहाँ निष्छल प्रेम और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित है, उसको उभारकर सामने लाना ही उन्हे अभीष्ट था। 'वैरागी', 'देवदासी', 'भिखारिन', 'बिसाती', 'आँधी', 'परिवर्तन', 'चूड़ीवाली', 'गुण्डा' आदि उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। उनकी कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक भी हैं, जैसे 'नूरी', 'सालवती', 'ममता' आदि। परन्तु वह ऐतिहासिक कम और काल्पनिक अधिक है। 'कहानी' तो इनमें भी नाम-मात्र को है। प्रसादजी से मिलती-जुलती भावना-प्रधान गद्य-काव्यात्मक शैली मे *राय कृष्णदास* (जन्म सन् १८९२) और *चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'*, *विनोदशंकर व्यास*, *गोविन्द वल्लभ पन्त* आदि ने भी कहानियाँ लिखी हैं। इनमे राय कृष्णदास सबसे अधिक सूक्ष्म भावचेतना के कलाकार हैं। आपकी कहानियो के दो संग्रह 'सुधांशु' और 'अनाख्या' उपलब्ध है। आपकी कहानियों मे प्रसादजी-जैसी रहस्यात्मकता नही है। आपने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। कहानियो में प्रयोजन भी निहित रहता है, जिससे पाठक को रंगीन चित्रों से अधिक भी कुछ हाथ लगता है। उनकी 'गहूला', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'नर-राक्षस', 'भय का भूत' आदि ऐसी ही श्रेष्ट कहानियाँ है।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार ही नही, सर्वश्रेष्ठ कहानीकार भी हैं। जिन दिनों भारत मे 'सम्राट्' की सत्ता ही सर्वोपरि थी, उन दिनों हिन्दी के श्रद्धालु और कृतज्ञ पाठकों ने उपन्यास-क्षेत्र की इस अद्वितीय विभूति को 'उपन्यास-सम्राट्' की उपाधि दी। फिर कहानी के पीछे भी 'सम्राट्' जुड़ने लगा। प्रेमचन्द ने यद्यपि प्रसाद से पहले ही कहानियाँ लिखनी आरम्भ कर दी थी लेकिन हिन्दी मे लिखी उनकी प्रथम कहानी 'पंचपरमेश्वर' सन् १९१६ मे ही प्रकाशित हुई। इससे पहले वह उर्दू मे लिखते थे, और उर्दू में ही उनकी पाँच कहानियों का सग्रह 'सोजेवतन' सन् १९०७ मे छपा था जिसे सरकार ने जब्त करके सारी कापियाँ जलवा दी थीं। उनकी उर्दू से अनुवादित कहानियों

का पहला संग्रह 'सप्त सरोज' के नाम से सन् १९१५ में छपा। फिर प्रेमचन्द हिन्दी में ही लिखने लगे और अगले बीस वर्षों में उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं, जो लगभग बीस-पच्चीस संग्रहों में प्रकाशित हुईं। अब उनमें से लगभग डेढ़ सौ कहानियाँ 'मानसरोवर' के आठ भागों में संग्रह कर ली गई हैं। प्रेमचन्द ने यदि कहानी छोड़कर और कुछ न लिखा होता तो भी विश्व-साहित्य में उनका स्थान सुरक्षित रहता।

प्रेमचन्द में एक पीड़ित-दलित जनता के प्रति सहज सहानुभूति और करुणा, गम्भीर देशानुराग और स्वतन्त्रता की आदर्शोन्मुख भावना थी। इसी कारण वह भारतीय जनता के प्रतिनिधि कलाकार बन सके। भारतीय जीवन और संस्कृति के वह इतने समीप थे कि सहज ही भारतीय जनता के मनोगत भावों को पहचानकर अभिव्यक्ति दे सकते थे। उनके जीवनानुभव का क्षेत्र भी विशाल था। उनके स्वर में प्रौढ़ता और जागृत विवेक है। फिर भी प्रेमचन्द जीवन-पर्यन्त एक जिज्ञासु बने रहे। उन्होंने अपने अनुभव और विचारों को कभी रूढ नहीं होने दिया, यद्यपि प्रारम्भिक काल की प्रवृत्तियाँ भी अन्त तक थोड़ी-बहुत चलती रहीं। आर्यसमाजी समाज-सुधारक से बढ़ते-बढ़ते वह अपने अन्तिम दिनों में वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता को पहचानने लग गए थे और पूँजीवादी समाज और संस्कृति की निस्सारता और प्रतिगामिता के बारे में उनके मन में कोई भ्रम या सन्देह न रहा था। उनकी अपनी प्रगति की छाप उनकी कहानियों पर भी अंकित होती गई है।

मूलतः प्रेमचन्द एक यथार्थवादी कलाकार हैं, अर्थात् जीवन के यथार्थ-सत्य की शोध करना और उसका कलात्मक आकलन करना ही उनका उद्देश्य है। वह समग्र जीवन के चितेरे हैं, इसीलिए उन्होंने हर वर्ग और सामाजिक स्थिति के लोगों की कहानियाँ लिखी हैं, हर शैली का प्रयोग किया है, कहानी के हर रूप-प्रकार का उपयोग किया है, घटना-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक—सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी है, लेकिन मनुष्य के अन्तर्बाह्य जीवन की मार्मिक स्थितियों का चित्रण किया उन्होंने यथार्थवादी प्रणाली के अनुसार ही। इन सब

दृष्टियों से उनकी एक नहीं अनेकानेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनकी तुलना विश्व की श्रेष्ठ कहानियों से की जा सकती है। उनकी 'पंच परमेश्वर', 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'रानी सारंधा', 'अलग्योझा', 'ईदगाह', 'सद्गति', 'अग्नि-समाधि', 'कामना-तरु', 'पूस की रात', 'सुजान भगत', 'कफ़न' आदि अधिक विख्यात श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली भी हिन्दी-साहित्य मे अनूठी है। उतनी जीवन्त प्राणवान, सरल पर गम्भीर भाषा का प्रयोग और किसी ने नही किया। गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन, आदि की भाषा भी बहुत-कुछ वैसी ही सरल प्रवाहमयी है, किन्तु उसमे वह जीवन की गरमाई नही जो प्रेमचन्द की भाषा में है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और 'सुदर्शन' भी प्रेमचन्द की पीढ़ी के लेखक हैं, और प्रारम्भिक उठान में प्रेमचन्द के ही समकक्ष रखे जाते थे। लेकिन जहाँ प्रेमचन्द अपनी सतत् जागरूकता के कारण अपनी प्रतिभा और कला का नवोन्मेष करते चले, वहाँ गुलेरी, कौशिक और सुदर्शन प्रारम्भिक समाज-सुधारक की सीढ़ी को लाँघकर ऊपर न चढ़ सके। उनकी कला भी रूढ़ हो गई, जिसकी आवृत्ति वे अपनी कहानियों में अन्त तक करते रहे। उसमें धीरे-धीरे ताज़गी खत्म हो गई। फिर भी *चन्द्रधरशर्मा गुलेरी* (१८८३-१९२२) की कहानी 'उसने कहा था' (१९१५) हिन्दी-साहित्य मे एक बेजोड़ रचना है। गुलेरी जी की दो और कहानियाँ मिलती हैं—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'। 'उसने कहा था' उनकी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कहानी है। पहले महायुद्ध से सम्बन्धित सैनिक लहनासिंह की यह करुणामिश्रित कहानी एक साथ ही कथा-विन्यास विचार-वस्तु, रचना-तन्त्र, भाषा और शैली, सभी दृष्टियों से इतनी प्रौढ़, सन्तुलित और सजीव रचना है कि आश्चर्य होता है कि हिन्दी-कहानी के प्रारम्भ में ही, जब आचार्य द्विवेदी अभी खड़ीबोली का साहित्यिक रूप स्थिर करने के भगीरथ प्रयत्न मे संलग्न थे, गुलेरीजी ने कहानी की भाषा का यह प्रौढ़ रूप किस तरह निखार लिया। *विश्वम्भरनाथ शर्मा*

'कौशिक' (१८६१-१६४६) भी पहले उर्दू के लेखक थे, बाद को हिन्दी में आये। कौशिकजी की पहली हिन्दी-कहानी 'रक्षा बन्धन' सन् १६१३ मे प्रकाशित हुई थी। कौशिकजी की कहानियों का क्षेत्र बहुत सीमित है। अन्त तक वे समाज-सुधार की भावना से ऊपर न उठ सके। इसी सीमित घेरे मे उन्होंने सरल कथानकों की उद्भावना करके सरल, भावुक कहानियाँ लिखी। भाषा अवश्य उनकी साफ़-सुथरी और मँजी हुई है, किन्तु उसमे वह जान नही जो प्रेमचन्द मे है, क्योकि जीवन की ऊपरी सतहों को ही वे छूते हैं, सूक्ष्म भावों की गहराई और प्राणवन्त विचारों की स्फूर्ति उनमें नही है। उनकी हास्य और विनोद से भरी 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' सम्भवतः पुराने 'चॉद' के पाठकों को स्मरण हो, लेकिन उनकी ३०० कहानियों मे से 'कल्प-मन्दिर' और 'चित्रशाला' नाम से उनके दो संग्रह भी उपलब्ध हैं। इनकी 'ताई' कहानी हिन्दी जगत् में बहुत लोकप्रिय है। कौशिकजी का ऐतिहासिक महत्त्व बड़ा है, किन्तु कलाकार की हैसियत से वे साधारण कोटि मे ही हैं। प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों में *पं० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन'* (जन्म १८६६) का नाम भी चौदह-पन्द्रह वर्ष पूर्व तक उतना ही प्रमुख था। उनकी पहली कहानी 'हार की जीत' सन् १६२० मे सरस्वती में प्रकाशित हुई थी। तब से आपकी कहानियों के लगभग दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात', 'चार कहानियाँ', 'परिवर्तन', 'नगीना' और 'पनघट'। सुदर्शनजी का क्षेत्र भी अपेक्षया कम सीमित है। उन्होने विशेषकर सामाजिक जीवन के चित्र अंकित किये हैं। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा वातावरण का यथार्थ चित्रण उनकी विशेषता है। उनका उद्देश्य कहानी द्वारा जीवन के मानवीय सत्यो का उद्घाटन और मनुष्य मे उदात्त मानवीय भावनाएँ जगाना रहा है। उनकी 'हार की जीत', 'कमल की बेटी', 'संसार की सबसे बड़ी कहानी', 'कवि की स्त्री' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। प्रेमचन्द की-सी व्यापकता सुदर्शन मे नहीं है, और न असाधारण उद्भावना शक्ति ही, रचना-चातुरी और नपी-तुली, सन्तुलित भाषा का प्रसाद गुण यद्यपि पर्याप्त है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' एक नई भाषा-शैली, क्रान्तिकारी भावना और राजनीतिक चेतना लेकर सन् १६२२ में हिन्दी-कहानी मे आये। आपके आगमन की तुलना किसी ने 'उल्कापात' तो किसी ने 'धूमकेतु' के उदय जैसी आकस्मिक घटनाओ से की है। कोई तूफ़ान और बवंडर का नाम भी लेते हैं। वास्तविक बात यह है कि 'उग्र' एक विद्रोही कलाकार हैं। उनका 'विद्रोह' अज्ञेय की तरह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक असामंजस्य और कुण्ठाओं का परिणाम न था, जिसमे यह अनुभूति कि 'मै विद्रोही हूँ' ही आत्म-परितोष देने लगती है और विद्रोही अपने मन की धुरी पर चक्कर काटने को ही क्रान्ति का पर्यायवाची समझ लेता है, बल्कि 'उग्र' का विद्रोह राजनीतिक और सामाजिक विचारों, रूढ़ियो, और गतानुगतिकता के विरुद्ध था, इसीलिए सोद्देश्य और आस्थावान था और उसने अपनी लपेट में हिन्दी के सभी पाठकों को लेकर उन दिनो खूब झकझोरा। देश-प्रेम, त्याग, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि राजनीतिक विषयों को आपने अपनी कहानियो मे सबसे पहले तीव्र कलात्मक अभिव्यक्ति दी। उन्हे जिस कारण कुछ लोगो ने 'घासलेटी' (अश्लील) साहित्य की रचना का आरोप लगाकर साहित्य-जगत् से बहिष्कृत करना चाहा, वह राजनीतिक कहानियाँ न थी, बल्कि उनकी वह सामाजिक कहानियाँ और उपन्यास थे जिनमे उन्होने समाज मे फैली कुरीतियों और भ्रष्टाचारों की बीभत्सता का पूरा यथातथ्य चित्रण किया था। जिन्होने अपना साहित्यिक आभिजात्य एक थोथी आदर्शवादिता और आडम्बरपूर्ण नैतिकता के सहारे खड़ा किया था, उन्हे 'उग्र' की यह उद्दण्ड हरकत बेहद अप्रिय लगी। उन्हे इससे अधिक कुरुचिपूर्ण और क्या हो सकता था कि कोई वेश्याओं, भिखमंगों, अपाहिजों, विधवाओं, और गुण्डों की समस्या पर आदर्शवाद की झीनी चादर न डाल-कर उसकी बीभत्स कुरूपता पर रोशनी डाले और उन्हे भी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध उभारे ? किन्तु सन् १६२२ से सन् १६३२-३३ तक 'उग्र' हिन्दी-पाठकों के सर्वाधिक प्रिय कहानीकार और लेखक बने रहे। फिर भी कुछ 'ऊँचों' की उपेक्षा उन्हे एक काल के लिए साहित्य-जगत् से निर्वासित करने

में और स्वयं 'उग्र' के मन पर कटु प्रभाव डालने में सफल हुई। किन्तु हाल ही में आपका एक नया कहानी-संग्रह 'सनकी अमीर' प्रकाशित हुआ है, जिसमें कुछ कहानियाँ तो अपने प्रचण्ड यथार्थ चित्रण के कारण अंग्रेजी उपन्यासकार फील्डिंग की याद दिलाती हैं। आपकी नई कहानी 'जल्लाद' हिन्दी में एक बेजोड़ रचना है। पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज के विरुद्ध जितना गहरा आक्रोश और घृणा आपके मन में है, आपकी कहानियों में वह उतनी ही आवेगमयी, ओजपूर्ण शैली, और कलात्मक चरित्र-चित्रण में व्यक्त हुई है। आपके पहले कहानी-संग्रह, 'दोज़ख की आग' 'चिन-गारियाँ' और 'बलात्कार' है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी 'उग्र' की तरह सामाजिक कुरीतियों का खुलकर भण्डाफोड़ किया है, लेकिन आपकी कहानियों में न 'उग्र' की शैली का कसाव है, और न सहज तीव्रता ही। 'उग्र' के वर्णन प्रकृतिवादी उतने नहीं होते, जितने शास्त्रीजी के। अर्थात् 'उग्र' समाज के नग्न और कुरूप पक्षों को केवल 'साधारण' के 'साधारण' चित्रण द्वारा नहीं दिखाते, किन्तु शास्त्रीजी 'साधारण' को प्रगल्भ यथातथ्य चित्रण द्वारा असाधारण बनाने की चेष्टा करते हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' नाम से छपे हैं, और 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी,' 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि आपकी उत्कृष्ट कहानियाँ हैं।

उग्र के आगमन के बाद हिन्दी कहानी के गगन में आठ-दस वर्ष तक फिर कोई 'उल्कापात' नहीं हुआ। जैनेन्द्र आये, परन्तु उल्कापात की तरह नहीं, 'सूर-सूर तुलसी ससी' की उक्ति के अनुसार प्रेमचन्द 'सूर' की बगल में 'ससी' का स्थान लेने। कहानी-लेखकों की दूसरी पीढ़ी सन् १९३० के लगभग और इस चौथे दशक में सामने आई। उन्होंने हिन्दी-कहानी में नये सीमान्त खोले। कहानी अधिक मनोवैज्ञानिक और जटिल हो गई।

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखकों में से हैं। वह प्रेमचन्द से ही द्वितीय समझे जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी-साहित्य में शरत् चन्द्र की क्षतिपूर्ति की है। यह अनुमान चाहे हू-

ब-हू दुरुस्त न हो, लेकिन इतना तो असंदिग्ध है कि जैनेन्द्र ने बाह्य और आन्तरिक जीवन के उभय पक्ष को पूरी मनोवैज्ञानिक सचाई के साथ समन्वित करने की कोशिश की है और हिन्दी-कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की है, और इस प्रकार हिन्दी-कहानी का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाया है। आधुनिक जीवन की जटिलता कहानी में भी प्रतिबिम्बित हो उठी है। जैनेन्द्र की विशेषता यह है कि वे जीवन की साधारण या औसत परिस्थितियों में रखकर, साधारण या औसत पात्रों की मनोदशाओं का चित्रण या 'मनोवैज्ञानिक सत्य' का उद्घाटन नहीं करते। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े असाधारण व्यक्ति की मानसिक क्रिया-प्रक्रिया और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण किया है, और इसके माध्यम से ही उन्होंने समाज के वैषम्य को भी प्रतिबिम्बित कर दिया है। एक विचारक की हैसियत से जैनेन्द्र समाजवादी नहीं, व्यक्तिवादी हैं, भौतिकवाद की ओर नहीं अध्यात्मवाद की ओर उनका सहज आकर्षण है तथा उनका मार्ग संघर्ष का नहीं समन्वय या समझौता है—यह सब दुरुस्त है। दृष्टिकोण की इन सीमाओं ने कहानी के वस्तु-चयन की प्रक्रिया और कथा-सूत्र में समस्या को उपस्थित करने और निष्कर्ष की ओर अनुधावित करने वाले उद्घाटन पर यथेष्ट प्रभाव डाला है और उनके यथार्थवाद को स्वच्छन्द रीति से वास्तविकता के सम्पूर्ण सत्य को प्रतिबिम्बित करने से रोका है, लेकिन फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जीवन-यथार्थ के उभय पक्षों को केवल सतही रूप से ही नहीं, बल्कि जीवन-मर्म की गहराइयों में डुबकी लगाकर आकलित करने की एक ऐसी श्रेष्ठ प्रणाली देकर हिन्दी-कहानी को समृद्ध किया है, जिसके द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उभार कर वस्तु-सत्य की मार्मिक अभिव्यक्ति की जा सकती है। जैनेन्द्र की भाषा और शैली हिन्दी में अनूठी है। बहुत संक्षेप में, मार्मिक तीक्ष्णता से तत्त्व की बात कहने में वे अपना सानी नहीं रखते। यह भाषा और शैली प्रयास-सिद्ध है, परन्तु यह सिद्धि उनकी इतनी अपनी है कि प्रयास दिखाई नहीं देता, और उनकी भाषा उनके लिए सहज स्वाभाविक लगती है।

इलाचन्द्र जोशी और स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' को जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता से प्रभावित कहा जाता है। कुछ लोग इन्हें जैनेन्द्र के स्कूल का बताते हैं। किन्तु इससे बढ़कर भ्रान्ति नही हो सकती। जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रणाली अपने जीवनानुभव और भाव-चेतन मानस की उपज है, जब कि इलाचन्द्र जोशी और स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' में मनुष्य की मनोगत दशाओं और अन्तर्द्वन्द्वो का चित्रण कम, फ्रॉयड की प्रणाली से किया गया मनोविकारो का विश्लेषण अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र जहाँ उच्च मानसिक भूमि पर मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं का अंकन और अन्तर्द्वन्द्वों के माध्यम से उसकी उदात्त, मानवीय सहानुभूतियों और मनोभावनाओं को जीवन की गहराई मे उतरकर अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते है, वहाँ ये दोनों कहानीकार अपने कुण्ठाग्रस्त पात्रों के विक्षिप्त मानस को मनोवैज्ञानिक औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यो को अपनी ओर से महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न करते है; साथ ही पाठको से भी उनके प्रति सहानुभूतिशील होने की अपेक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त, इन लेखकों मे मनोविश्लेषण के प्रति इतना प्रबल आग्रह है कि वे मानसिक रुग्णताओं को ही मानवीय सत्य मानकर, अपने पात्रो के कृत्यों का यथातथ्य प्रकृतवादी आकलन करते हैं जिससे उनकी रचनाओ का अन्तःस्वर तो कैशोर-उद्धत, अविवेकी, अनुदात्त और अहम्मन्यतापूर्ण होता ही है, उनके पात्र भी अपनी असामाजिकता, स्वार्थपरता और आत्म-केन्द्रित उत्तरदायित्वहीनता को ही सामाजिक विद्रोह और क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन का पर्याय मान लेते हैं। पूरी कहानी कभी ही साधारणता के तल से ऊपर उठ पाती है। क्रान्ति और सामाजिक भावना का ऐसा विद्रूप हिन्दी मे अन्यत्र नहीं मिलता। अपनी उदात्त मानवीय संवेदना के अभाव और जीवन-सत्य की कलात्मक प्रतीति से वंचित होने की पूर्ति ये लेखक अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उक्ति-वैचित्र्य, संकेत-कथन, भाषा के बनाव-सिंगार, और अभिनव रूप-विन्यास से करते हैं। परन्तु उनके पात्र सजीव नहीं हो पाते, फ्रॉयड की स्थापनाओं के दृष्टान्तस्वरूप गढ़े गए, कृत्रिम और बनावटी लगते हैं, और

मनुष्य और मनुष्यता का उपहास-मात्र प्रतीत होते हैं। इस विकृति का कारण यह है कि सामाजिक जीवन के वैषम्य से आक्रान्त ये कहानीकार जीवन पर से आस्था खोकर हर प्रकार के सामाजिक जीवन के विरोधी हो गए हैं और इस उच्छृंखल, अराजक विरोध को प्रकट करके व्यक्ति की सत्ता प्रमाणित करना चाहते हैं। इन लेखकों की कहानियों मे शैली-भेद चाहे कितना हो, किन्तु जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः एक-सा है और जैनेन्द्र से भिन्न है। इलाचन्द्र जोशी इनमे कमजोर कहानीकार हैं और 'अज्ञेय' अधिक रचना-कुशल। जोशीजी की कहानियों के संग्रह, 'रोमाण्टिक और छाया', 'आहुति और दीवाली' और 'होली', 'ऐतिहासिक कथाएँ', तथा 'अज्ञेय' की कहानियो के संग्रह 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठारी की बात' और 'जय-दोल' हैं।

इनसे कुछ भिन्नकहानियाँ *भगवतीचरण वर्मा* ने लिखी हैं। इनकी कहानियों के संग्रह 'ग्विलते फूल', 'इन्स्टालमेण्ट' और 'दो बाँके' प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक हिन्दी कहानी की परम्परा मूलतः मानववादी थी। समाज के वैषम्य से कुण्ठित-पीड़ित मनुष्य के अन्तःकरण मे मनुष्य और मनुष्यता का निवास है, मानव-जीवन मे इस विश्वास को लेकर ही कहानीकार सामाजिक विषमताओं पर आक्रमण करते थे और मनुष्य की समाज-खण्डित प्रतिमा को पुनः पूर्णत्व देने के लिए उसके अन्तःसत्य और अन्तःसौन्दर्य, यानी उसकी अखण्डित मानवीयता का उद्घाटन करते थे। परन्तु ये लेखक, इस परम्परा के विपरीत, फ्रॉयडी अर्ध-सत्यों को कबूल करके मनुष्य को परिस्थितियो का ही नहीं, स्वयं अपनी अर्ध-चेतन काम-वासनाओं का निरुपाय दास और सभ्यता के बाह्याभरण में ढँके-छिपे पर मूलतः हिंस्र, पाशविक और स्वार्थी ही चित्रित करते है। *'पहाड़ी'* और *नरोत्तमप्रसाद नागर* भी प्रारम्भ में किंचित् भेद के साथ इसी प्रवृत्ति के कहानीकार थे। राष्ट्रीय जागरण और हिन्दी-कहानी की इस परम्पराभ्रष्ट प्रवृत्ति को यही छोड़कर अब हम अन्त में यशपाल पर विचार करेंगे, जो प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं।

यशपाल की कहानियों के लगभग दस संग्रह अभी तक प्रकाशित हो

चुके हैं—'अभिशप्त', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत्त चिनगारी', 'फूलो का कुर्ता', 'धर्म-युद्ध', 'उत्तराधिकारी' और 'चित्र का शीर्षक'। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की तरह यशपाल की भी अनेक कहानियाँ हिन्दी कहानी-साहित्य मे शीर्ष कोटि की हैं। यशपाल ने हिन्दी-कहानी की सामान्य मानववादी परम्परा को नई सामाजिक-राजनीतिक चेतना देकर ऊँचे धरातल पर उठाया है। कुछ प्रारम्भिक कहानियों को छोड़कर यशपाल की कहानियाँ मूलतः यथार्थवादी हैं। उनकी कथावस्तु और चरित्र-चित्रण मार्मिक और भाषा-शैली प्रौढ़, गम्भीर और व्यंगपूर्ण होती है। यशपाल अपनी कहानियो मे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के विविध चित्रो द्वारा मौलिक समस्याएँ उठाते हैं, और एक कलाकार की रीति से उनका समाधान भी खोजते है। ये समस्याएँ मौलिक है क्योकि मनुष्य-जीवन के व्यापक सत्य से उद्भूत है। उनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण इन समस्याओं के मूल कारणो तक पहुँचने मे सहायक होता है और उनकी विशेषता यह है कि वे आद्यन्त कलाकार बने रहते है, परिस्थितियो और उनके मध्य संघर्ष करने वाले चरित्रो के कार्य-व्यापार के स्वाभाविक उद्घाटन से वह सामाजिक जीवन और मनुष्य के मनोगत भावो और द्वन्द्वों का चित्रण करते हैं। यशपाल की मूल समस्या यह है कि समाज के विषम संगठन ने मनुष्य-जाति को ही दो विरोधी वर्गों मे नही बाँटा है, बल्कि मनुष्य के विचार और व्यवहार या आचरण मे भी एक द्वैत या वैषम्य पैदा कर दिया है। इस द्वैत या वैषम्य के प्रति पाठको को सचेत करना ही यशपाल का प्रधान उद्देश्य है। यह चेतना जनता मे उस सामाजिक क्रियाशीलता को जन्म देगी जो सामाजिक वैषम्य का तो अन्त करेगी ही, 'ऊँच विचार नीच करतूती' के वैषम्य का भी अन्त कर देगी। तभी मनुष्य का बाह्य और आन्तरिक जीवन पूर्ण स्वास्थ्य का लाभ कर सकेगा। इस समस्या को उन्होंने विविध ढंगों से अपनी कहानियों मे उठाया है और साधारण अथवा शिष्ट समाज की ऊँचे विचारों में आवेष्टित 'नीच करतूती' पर तीखे प्रहार किये हैं।

यशपाल से प्रभावित तो नही, लेकिन बहुत-कुछ समस्याओं को प्रगति-

शील दृष्टिकोण से उठाने वाले दूसरे समर्थ कहानीकार चन्द्रकिरण सौनरेक्सा तथा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने मुख्यतः घरेलू जीवन के सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर शक्तिशाली कहानियाँ लिखी हैं। कथावस्तु की योजना आप सहज कौशल से करती हैं और चरित्र-चित्रण प्राणवान होता है। आपकी कहानियो का केवल एक ही संग्रह 'आदमखोर' प्रकाशित हुआ है, यद्यपि कहानियाँ आपने १५० से अधिक लिखी हैं और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं मे छपकर ख्याति पा चुकी हैं। 'अश्क' की कहानियो के संग्रह 'पिंजरा', 'काले साहब', 'जुदाई की शाम का गीत', 'छींटे' और 'बेगन का पौधा' हैं। 'दो धारा' मे उनकी और श्रीमती कौशल्या 'अश्क' की कहानियाँ संग्रहीत है। 'अश्क' पहले उर्दू के कहानी-कार थे, इसलिए उर्दू-कहानियों की शैली का उन पर प्रभाव है। कहानी में कथा-सूत्र चाहे अधिक न हो, पर वातावरण का यथार्थ अंकन और सूक्ष्म प्रभाव अवश्य रहते हैं, जिससे कहानी की गति धीमी हो जाती है। उनके चरित्र-चित्रण की विशेषता यह है कि वे अपने पात्रों को विशेष परिस्थितियों के बीच अपने साधारण-असाधारण सुख-दुःख का भार वहन करते हुए जीवन-पथ पर अग्रसर होते दिखाते हैं। इस सामान्य संघर्ष-यात्रा में ही उनके चरित्रों की कमजोरियो-शहजोरियो का उद्घाटन होता जाता है और सामाजिक वैषम्य की झलक पाठक को मिलती जाती है।

इस प्रकार हिन्दी कहानी इस समय दो विरोधी मार्गों पर चल पड़ी है।

६

हिन्दी निबन्ध

भारतेन्दु से ही हिन्दी-गद्य मे निबन्ध-लेखन की परम्परा का सूत्रपात होता है। निबन्ध भी हिन्दी-साहित्य का एक आधुनिक गद्य-रूप है। निबन्ध का अंग्रेजी पर्याय 'एसे' (Essay) है। फ्रांसीसी दार्शनिक मौन्टेन ने अपने आत्म-विवेचनात्मक, दार्शनिक और नीति-सम्बन्धी लेखों के संग्रह को सबसे पहले 'एसे' का नाम दिया था—अर्थात् ऐसे निबन्ध जो तात्त्विक मीमांसाओं की तरह किसी विषय पर अन्तिम बात कहने का दावा नहीं करते, बल्कि बहस के लिए कुछ नुक्ते उठाने का ही 'प्रयास' करते हैं। तब से गद्य में एक सीमित या विशिष्ट विषय के संक्षिप्त विवेचन को 'एसे' की संज्ञा दी जाने लगी। निबन्ध क्या है, इस पर पश्चिम में काफी लिखा गया है। हमारे यहाँ की प्राचीन परिपाटी के समान ही वहाँ भी निबन्धों का वर्गीकरण किया गया, और विषयगत भेद और शैलीगत वैशिष्ट्य के आधार पर निबन्धों के 'प्रकार' की लम्बी-लम्बी सूचियाँ तैयार की गईं। उपदेशात्मक, आलोचनात्मक, विवेचनात्मक, कल्पनात्मक, भावात्मक, संस्मरणात्मक, ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक, मनोवैज्ञानिक, विलक्षणता-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान, प्रकृति-चित्रण-प्रधान, आदि निबन्ध-प्रकारों की सूची खासी लम्बी है और यदि चाहें तो 'हास्य-प्रधान निबन्ध', 'करुणा-प्रधान निबन्ध', 'गम्भीर निबन्ध', हल्के-फुल्के निबन्ध—इसी सूची को मनमाना बढ़ाया जा सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसा वर्गीकरण तात्त्विक नहीं है, केवल विषयगत या शैलीगत भेद पर आश्रित है, जो अपनी जगह निबन्धों की गौण चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश तो डाल सकता है किन्तु 'निबन्ध' की मूलभूत प्रकृति को समझने में सहायक नहीं होता। यदि गद्य में लिखा

प्रत्येक संक्षिप्त विवेचन निबन्ध है, तो निश्चय ही निबन्धों के केवल दो वर्ग होते है : (१) कलात्मक निबन्ध, जिसे ललित निबन्ध भी कह सकते हैं, और (२) तथ्य-निरूपक, वस्तु-निष्ठ, वैज्ञानिक निबन्ध। पहला ललित-कला या रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आता है और निबन्धकार उसमे स्वयं प्रकट होकर पाठक के साथ सीधा आत्मीय और मार्मिक सम्बन्ध स्थापित करके अपने विशिष्ट उक्ति-चातुर्य से उसकी बुद्धि और रागों को छूता-उकसाता-बिलगाता और उसका मनोरंजन करता हुआ विवेच्य विषय का प्रतिपादन और प्रेषण करता है। दूसरा सिद्धान्त-विवेचन या विज्ञान के अन्तर्गत आता है। निबन्धकार उसमें यथासम्भव अपने व्यक्तित्व को परोक्ष मे रखकर, केवल अपनी तर्क और विवेचना-शक्ति से पाठक की बुद्धि और चेतना को उकसाता है और अपने विचारों या निष्कर्षों का प्रेषण करता है। उदाहरण के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' या 'शिरीष के फूल' (कल्पलता) पहले वर्ग के निबन्ध है और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-संग्रह 'काव्य में रहस्यवाद' के निबन्ध दूसरे वर्ग के हैं। निबन्धकार की वैयक्तिकता की छाप तो दोनों वर्गों के निबन्धों पर अनिवार्यतः रहती ही है, और दोनो वर्गों के निबन्धकार प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल उनमें हास्य-विनोद, व्यंग्य के छींटे भी बिखेर सकते हैं, यद्यपि दूसरे वर्ग के निबन्धों में इसकी प्रवृत्ति कम होती है। इस व्यापक वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी तरह के विषय दोनों प्रकार के निबन्धों की विवेच्य-वस्तु बन सकते हैं। किन्तु एक कलात्मक अभिव्यक्ति का प्रकार है तो दूसरा वैज्ञानिक। फलतः आज जब हम विशुद्ध 'निबन्ध' की बात करते हैं, तो केवल साहित्यिक (कलात्मक) 'निबन्ध' से ही हमारा अभिप्राय होता है, अन्य प्रकार के निबन्धों को अब उनके विषयगत उपभेद के विशेषण जोड़कर अभिहित किया जाता है, जैसे 'आलोचनात्मक निबन्ध', 'राजनीतिक निबन्ध', 'ऐतिहासिक निबन्ध' आदि; कलात्मक निबन्धों को उनके शैलीगत उपभेद के अनुसार भावात्मक, विचारात्मक, व्यंग्यात्मक आदि। निबन्ध के प्रकरण में ऐसे कलात्मक निबन्धों का ही विवेचन अपेक्षित है। अन्त में यह स्पष्ट कर

देना उचित है कि अपने आप में दोनों में से किसी वर्ग के निबन्ध अधिक श्रेष्ठ या प्रभावोत्पादक नही होते। वस्तुतः यह तो निबन्धकार की संवेदनशील प्रतिभा और तथ्य-निरूपिणी प्रौढ़ता पर निर्भर करता है कि वह जिस वर्ग का निबन्ध लिख रहा है उसे श्रेष्ठ कलाकार या वैज्ञानिक रचना बना सकता है या नहीं। निबन्ध-गद्य का अत्यन्त शक्तिशाली रूप-विधान है। कुशल निबन्धकार अपने रचना-लाघव से अत्यन्त संक्षेप मे बहुत बड़ी, तत्त्व की बात सरल कलात्मक ढंग से या सुबोध वैज्ञानिक तर्क-पद्धति से पाठकों तक प्रेषित कर सकता है। इसीलिए विश्व के आधुनिक गद्य-साहित्य में निबन्ध का इतना बड़ा महत्त्व है।

राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल मे पैदा होने के कारण भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखको को चतुर्मुखी दायित्वों का भार उठाना पड़ा। ये दायित्व बड़े थे, विशेषकर उन प्रारम्भिक दिनो की परिस्थितियो मे उनका गुरुत्व और भी बड़ा था। खड़ीबोली हिन्दी को, जिसमे अभी साहित्य के नाम पर केवल दो-चार ही साधारण रचनाएँ थी, गद्य-साहित्य की रचना के उपयुक्त बनाना, अर्थात् नई राष्ट्रीय जागृति का समर्थ वाहन बनाना और साथ ही उसमे नये साहित्य की सृष्टि करके उसके अंग-उपांग को पुष्ट और समृद्ध बनाना स्वयं अपने-आप मे एक गुरुतर दायित्व था। पर उनके सामने प्रश्न केवल इतना ही न था। उन्हे इस नये साहित्य को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के साधनो का भी स्वयं ही विकास करना पड़ा। तब तक पूँजी लगाने वाले प्रकाशको का जमाना न आया था। पत्र और साहित्य से तब अतिरिक्त-मुनाफा कमाने का स्वप्न भी न देखा जाता था। अतः लेखकों को ही पाठक भी खोजने पड़े। उन्हे शिक्षा-प्रचार और सामाजिक-सुधार की आवश्यकता के प्रति जनता को सचेत भी बनाना पड़ा और देश-देशान्तर में होने वाली जो घटनाएँ हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित कर रही थी उनकी गतिविधि से परिचित कराके सर्वसाधारण की राजनीतिक चेतना को भी जागृत करना पड़ा। इतने बड़े दायित्वो का भार पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही उठाया जा सकता था। इसीलिए भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लगभग सभी लेखकों

ने अपनी-अपनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, स्वयं उनका सम्पादन किया और स्वयं ही उनमें लेख-टिप्पणियाँ और निबन्ध भी लिखे। नई चेतना को लोगों तक पहुँचाने मे निबन्ध ही सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुए—अधिक सरल और सुबोध माध्यम। इसीलिए भारतेन्दु के समय निबन्ध-साहित्य की ही सर्वाधिक रचना हुई। हर सम्भव विषय पर निबन्ध लिखे गए। चूँकि सर्व-साधारण को शिक्षित-जागृत करने और पत्रकारिता की आवश्यकताओ से इस गद्य-रूप का विकास हुआ, इसलिए इन प्रारम्भिक निबन्धों मे व्यापक सामाजिक चेतना और पाठकों को सहज ही प्रभावित करने वाली सजीवता मिलती है। गम्भीर पाण्डित्य और गहन-चिन्तन की बोझिलता उनमें नहीं है। फिर भी लेखको के अपने-अपने व्यक्तित्वों की छाप तो इन निबन्धो पर है ही, जिससे उनकी वैयक्तिक शैलियों का विवेचन करना सम्भव है। चूँकि तब तक साहित्य की भाषा का सामान्य रूप स्थिर नहीं हुआ था, इस-लिए प्रत्येक लेखक की भाषा में स्थानीय रंग भी लक्षित है जिसे स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों और शब्दो ने और भी गाढ़ा कर दिया था और धरती की गन्ध से अनुप्राणित करके सजीव बना दिया था।

भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकारों मे *बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास* और *राधाचरण गोस्वामी* के नाम प्रमुख हैं। निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में इन लेखकों का प्रयास प्राथमिक था, इसलिए आधुनिक निबन्ध के सभी गुण उनमे बीज-रूप मे ही मिलते हैं। प्रायः सभी ने अपने निबन्धों के विषय जीवन के विविध क्षेत्रों से चुने हैं—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक समाज-सुधार की भावना ही इनमें प्रधान होती थी और हास्य, व्यंग्य-युक्त मार्मिक-ओजस्वी उक्तियों द्वारा इन लेखों को रोचक और प्रभावकारी बनाया जाता था। दूसरे ढंग के सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण, पर्व-त्यौहार, जीवन-चरित, इतिहास और नीति से सम्बन्ध रखते हैं। प्रायः सभी लेखकों ने इन विषयों पर भी लिखा है। परन्तु ये निबन्ध बहुधा उपदेशात्मक हैं। साहित्यिक निबन्धों की प्रथा

अभी नहीं चली थी। केवल कुछ ही निबन्ध लिखे गए, परन्तु जो भी मिलते हैं, विवेचन-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी के प्रथम निबन्धकार भी हैं। उन्होंने अपने सामाजिक निबन्धों में धार्मिक पाखण्डों और अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। देश और समाज की उन्नति के लिए वे इन पाखण्डों का त्याग और एकता की भावना के व्यापक प्रसार की आवश्यकता समझते थे। उनकी शैली नाटकीय थी, जिसे वे व्यंग्य-हास्य-व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों और अतिशयोक्तियों से चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बनाते थे। उनके सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं। अपनी यात्राओं के वर्णन उन्होंने अत्यन्त सजीव किये हैं। यात्रा में आये प्रदेशों के रीति-रिवाज, सामाजिक पतन, सरकारी कर्मचारियों की धाँधली आदि और दर्शनीय स्थानों की प्राकृतिक छटा का कोई ब्यौरा उनकी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं छूटा। भारतेन्दु के निबन्ध विचारात्मक और व्याख्यात्मक शैली के हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त व्यंग्यात्मकता है।

बालकृष्ण भट्ट असामान्य रूप से स्वतन्त्रद्रष्टा विचारक थे तथा परिवर्तन और प्रगति के समर्थक और परम्परा-निर्वाह के घोर विरोधी थे। इनके निबन्ध सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक विषयों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर भी हैं और उन्होंने विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक तथा भावात्मक शैलियों का भी प्रयोग किया है। इतने विविध विषयों पर इतने विविध ढंगों से हिन्दी में कम लेखकों ने निबन्ध लिखे हैं। उनकी शैली व्यक्तिनिष्ठ है और भाषा, विषय तथा प्रतिपादन सभी पर आपके व्यक्तित्व की छाप है। उनके निबन्धों के आकर्षक शीर्षक ही उनके मनमौजी स्वभाव के प्रमाण हैं : 'माँगबो भलो न बाप से जो विधि राखै टेक', 'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' या 'कौतुक', 'बातचीत', 'दीन', 'आँख', 'खटका', 'जबान' आदि। आपके विश्लेषणात्मक लेखों में तर्क-सूत्र व्यवस्थित ढंग से चलता है, किन्तु अन्य निबन्धों में कहीं-कहीं सिलसिला टूट जाता है। भट्टजी स्वतन्त्र विचारक तो इतने थे कि उस जमाने में भी

ने अपनी-अपनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित की, स्वयं उनका सम्पादन किया और स्वयं ही उनमें लेख-टिप्पणियाँ और निबन्ध भी लिखे। नई चेतना को लोगों तक पहुँचाने मे निबन्ध ही सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुए—अधिक सरल और सुबोध माध्यम। इसीलिए भारतेन्दु के समय निबन्ध-साहित्य की ही सर्वाधिक रचना हुई। हर सम्भव विषय पर निबन्ध लिखे गए। चूँकि सर्व-साधारण को शिक्षित-जागृत करने और पत्रकारिता की आवश्यकताओं से इस गद्य-रूप का विकास हुआ, इसलिए इन प्रारम्भिक निबन्धों मे व्यापक सामाजिक चेतना और पाठको को सहज ही प्रभावित करने वाली सजीवता मिलती है। गम्भीर पाण्डित्य और गहन-चिन्तन की बोझिलता उनमें नही है। फिर भी लेखको के अपने-अपने व्यक्तित्वो की छाप तो इन निबन्धो पर है ही, जिससे उनकी वैयक्तिक शैलियो का विवेचन करना सम्भव है। चूँकि तब तक साहित्य की भाषा का सामान्य रूप स्थिर नहीं हुआ था, इस-लिए प्रत्येक लेखक की भाषा मे स्थानीय रंग भी लक्षित है जिसे स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियो और शब्दों ने और भी गाढ़ा कर दिया था और धरती की गन्ध से अनुप्राणित करके सजीव बना दिया था।

भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकारों मे *बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद, तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास* और *राधाचरण गोस्वामी* के नाम प्रमुख हैं। निबन्ध-लेखन के क्षेत्र मे इन लेखकों का प्रयास प्राथमिक था, इसलिए आधुनिक निबन्ध के सभी गुण उनमें बीज-रूप मे ही मिलते हैं। प्रायः सभी ने अपने निबन्धों के विषय जीवन के विविध क्षेत्रों से चुने हैं—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक समाज-सुधार की भावना ही इनमे प्रधान होती थी और हास्य, व्यंग्य-युक्त मार्मिक-ओजस्वी उक्तियों द्वारा इन लेखों को रोचक और प्रभावकारी बनाया जाता था। दूसरे ढंग के सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण, पर्व-त्यौहार, जीवन-चरित, इतिहास और नीति से सम्बन्ध रखते हैं। प्रायः सभी लेखकों ने इन विषयों पर भी लिखा है। परन्तु ये निबन्ध बहुधा उपदेशात्मक हैं। साहित्यिक निबन्धों की प्रथा

अभी नहीं चली थी। केवल कुछ ही निबन्ध लिखे गए, परन्तु जो भी मिलते हैं, विवेचन-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी के प्रथम निबन्धकार भी हैं। उन्होंने अपने सामाजिक निबन्धों में धार्मिक पाखण्डों और अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। देश और समाज की उन्नति के लिए वे इन पाखण्डों का त्याग और एकता की भावना के व्यापक प्रसार की आवश्यकता समझते थे। उनकी शैली नाटकीय थी, जिसे वे व्यंग्य-हास्य-व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों और अतिशयोक्तियों से चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बनाते थे। उनके सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं। अपनी यात्राओं के वर्णन उन्होंने अत्यन्त सजीव किये हैं। यात्रा में आये प्रदेशों के रीति-रिवाज, सामाजिक पतन, सरकारी कर्मचारियों की धाँधली आदि और दर्शनीय स्थानों की प्राकृतिक छटा का कोई ब्यौरा उनकी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं छूटा। भारतेन्दु के निबन्ध विचारात्मक और व्याख्यात्मक शैली के हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त व्यंग्यात्मकता है।

बालकृष्ण भट्ट असामान्य रूप से स्वतन्त्रद्रष्टा विचारक थे तथा परिवर्तन और प्रगति के समर्थक और परम्परा-निर्वाह के घोर विरोधी थे। इनके निबन्ध सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक विषयों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर भी हैं और उन्होंने विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक तथा भावात्मक शैलियों का भी प्रयोग किया है। इतने विविध विषयों पर इतने विविध ढंगों से हिन्दी में कम लेखकों ने निबन्ध लिखे हैं। उनकी शैली व्यक्तिनिष्ठ है और भाषा, विषय तथा प्रतिपादन सभी पर आपके व्यक्तित्व की छाप है। उनके निबन्धों के आकर्षक शीर्षक ही उनके मनमौजी स्वभाव के प्रमाण हैं : 'भौंगबो भलो न बाप से जो बिधि राखै टेक', 'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' या 'कौतुक', 'बातचीत', 'दीन', 'आँख', 'खटका', 'जवान' आदि। आपके विश्लेषणात्मक लेखों में तर्क-सूत्र व्यवस्थित ढंग से चलता है, किन्तु अन्य निबन्धों में कहीं-कहीं सिलसिला टूट जाता है। भट्टजी स्वतन्त्र विचारक तो इतने थे कि उस जमाने में भी

'संतति-नियमन' का समर्थन करते थे और शास्त्र-वचन को बिना जाँचे-परखे प्रमाण न मानते थे। उनका पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' उनके निबन्धों के कारण खूब लोकप्रिय हुआ था।

प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट के सहयोगी थे; वैसे ही विनोदी और स्वच्छन्द स्वभाव के विचारक थे। उनके निबन्ध 'ब्राह्मण' में छपते थे, जिसका सम्पादन वह स्वयं करते थे। भारतेन्दु के निबन्धों की तरह इनके स्वभाव का फक्कड़पन भी इनकी गद्य-शैली में लक्षित होता है। भाषा में जहाँ-तहाँ बैसवाड़ी बोली के शब्द और ग्रामीण मुहावरे और कहावतें भी मिलती हैं। व्याकरण और भाषा की मर्यादा का पालन करना उनकी स्वच्छन्द प्रकृति के अनुकूल न था। अपने विचारों को मार्मिकता और व्यंग्यात्मकता से उपस्थित करना ही उन्हें अभीष्ट था। इसीलिए उनकी शैली में इतनी आत्मीयता और बाँकपन है। निबन्धों के शीर्षक भी उनके मनमौजीपन के प्रतीक है—'दाँत', 'भौं', 'धोखा', 'बालक', 'पंच परमेश्वर' आदि। परन्तु शीर्षक से बँधकर वह न लिखते थे। चाहे जिस शीर्षक के अन्तर्गत वह अपने निबन्धों में स्वच्छन्द रूप से विलायत-यात्रा, समाज की उन्नति, स्वधर्म, देश-सेवा और स्वभाषा-प्रेम आदि की भी चर्चा कर डालते। 'निबन्ध-नवनीत', 'प्रताप-पीयूष' तथा 'प्रताप-समुच्चय' नाम से मिश्रजी के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य हिन्दी-निबन्धकारों में 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादक बदरीनारायण 'प्रेमघन' तथा दूसरे लेखकों ने जो निबन्ध या टिप्पणियाँ लिखी वे साधारण कोटि की ही है। इसके बाद आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी के समय में ही हिन्दी-निबन्धों का सम्यक् विकास हुआ।

सन् १९०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं का सूत्रपात हुआ। तब से निबन्धों में 'साहित्यिकता' अधिक और जिन्दादिली कम होती गई। आचार्य द्विवेदी ने १९०३ में सरस्वती का सम्पादन सँभाला और हिन्दी भाषा के संस्कार में जुट गए। उनके अथक उद्योग और पाण्डित्य के प्रभाव से भाषा में एकरूपता आने लगी और निबन्धों

का स्वर गम्भीर हो चला। फलतः निबन्धों के विषय भी गम्भीर होने लगे और हिन्दी निबन्ध का रंग-रूप वही न रहा जो भारतेन्दु के समय में था। मासिक पत्रों में गम्भीर निबन्ध और साप्ताहिक-दैनिक पत्रों में ओजपूर्ण राजनीतिक निबन्ध छपने लगे। इस प्रकार साहित्यिक निबन्ध अधिक संभ्रान्त और शिष्ट समाज की वस्तु बन गया। फलतः हिन्दी-निबन्धों की शैली में पहले-जैसी हार्दिकता, जिन्दादिली और आत्मीयता न रही। हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिए ज्ञान-संचय की अनिवार्यता बढ़ गई थी। विविध विषयों पर भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यों में उपलब्ध ज्ञान-राशि को हिन्दी में लाना साहित्यिक कार्यशीलता का महत्त्वपूर्ण अंग हो गया था।

इस बीच जो निबन्धकार सामने आये उनमें आचार्य *महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्र बन्धु, पद्मसिंह शर्मा* तथा *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल* के अतिरिक्त *माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी* और *सरदार पूर्णसिंह* के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य द्विवेदी के समय से हिन्दी में साहित्यालोचना का स्वतन्त्र विकास शुरू हुआ और आलोचनात्मक निबन्धों की परिपाटी चल पड़ी। इस प्रकार ललित निबन्ध और तथ्य-निरूपक निबन्ध का भेद स्पष्ट हो गया, और दोनों वर्गों के निबन्ध अलग-अलग विकास करने लगे। अतः इस प्रकरण में हम केवल 'ललित निबन्धों' की धारा पर ही विचार करेंगे, आलोचनात्मक निबन्धों पर अगले प्रकरण 'हिन्दी-आलोचना' में प्रसंगवश विचार होगा ही।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अधिकतर पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में प्राप्त ज्ञान को अपने लेखों में संकलित करके हिन्दी के पाठकों का ज्ञान-वर्धन करते रहे। उनके मौलिक चिन्तन से लिखे साहित्यिक निबन्ध कम ही हैं, जैसे 'दण्डदेव का आत्म-निवेदन', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' या 'नल का दुस्तर दूतकार्य'। इन निबन्धों की शैली रोचक है और उसमें किंचित् आत्मीयता भी मिलती है। इसी प्रकार *बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्र बन्धु, बाबू गुलाबराय, पद्मसिंह शर्मा,*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और *पदुमलाल पन्नालाल बख्शी* के अधिकतर निबन्ध सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक हैं, और ललित निबन्धों की कोटि में नहीं आते। अलबत्ता बाबू गुलाबराय के विनोदमयी शैली में लिखे संस्मरणात्मक निबन्ध, पद्मसिंह शर्मा की फड़कती शैली में लिखी जीवनियाँ और संस्मरणात्मक निबन्ध और पदुमलाल पन्नालाल बख्शी के व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध और शुक्लजी के 'करुणा', 'श्रद्धा-भक्ति', 'लोभ और प्रीति' आदि गम्भीर विवेचनात्मक लेख ही इस प्रकरण में उल्लेखनीय हैं। किन्तु आचार्य द्विवेदी के समकालीन लेखकों में से जिन्होंने शुद्ध ललित निबन्धों की रचना की उनमें माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह के नाम अग्रगण्य हैं। यद्यपि परिमाण में इन निबन्धकारों ने कम ही लिखा है, लेकिन उन्होंने भारतेन्दु के समकालीन लेखकों की तरह आत्मीय ढंग से उच्चकोटि के निबन्ध रचे।

बालमुकुन्द गुप्त 'भारत-मित्र' के सम्पादक थे। पहले वह उर्दू-पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और स्वयं उर्दू के अच्छे लेखक थे। इसीलिए उनकी भाषा में एक विशेष परिष्कार है। व्यंग्य शालीन और सांकेतिक है। उनकी भाषा मुहावरेदार और वाक्य सरल, चुस्त और अर्थपूर्ण होते हैं। हिन्दी की गद्य-शैली के निर्माण में गुप्तजी का ऊँचा स्थान है। आप संयत, पर चुभता हुआ, विनोद लिखते थे। 'भारत-मित्र' में 'शिव शंभू का चिट्ठा' नाम से आपने जो लेख लिखे उनको आज भी लोग चाव से पढ़ते हैं। उनमें गुप्तजी ने हास्य-विनोद के माध्यम से अपने हृदय का क्षोभ और दुख भी व्यक्त कर दिया है। आपके साहित्यिक निबन्ध हिन्दी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि के प्रश्नों से सम्बन्ध रखते हैं।

माधवप्रसाद मिश्र वास्तव में भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त के समकालीन थे, परन्तु वे प्रवृत्ति से भिन्न कोटि के निबन्धकार हैं—भावनापूर्ण, जिससे वे अपने परवर्ती निबन्धकारों के अधिक निकट हैं। भावना का आवेश, माधुर्य और क्रमागत भावों का सरस चित्रण उनकी शैली की विशेषता है। उनके त्यौहारों, तीर्थस्थानों पर लिखे निबन्ध भारतेन्दु के अन्य समकालीन

लेखकों से अधिक विद्वत्तापूर्ण और मार्मिक हैं। 'माधव मिश्र निबन्ध माला' के नाम से आपके निबन्धों का संकलन छप चुका है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने यद्यपि बहुत कम लिखा है, किन्तु जैसे उनकी कहानी 'उसने कहा था' अद्वितीय है, वैसे ही उनके निबन्ध भी अनूठे हैं। उनमें केवल लेखक की प्रगतिशील चेतना की ही छाप नहीं है, बल्कि शैली भी अत्यधिक सुष्ठु और परिमार्जित है। उनका व्यंग भी पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और शक्तिशाली है। 'मारेसि मोहि कुठाँव', 'कछुआ धरम' और 'संगीत' आदि निबन्धों में समाज की रूढ़िवादिता आदि पर तीखे, पर शिष्ट व्यंग्यों से, प्रहार किया गया है। इनका शैली का चमत्कार केवल अनुभव करने की वस्तु है।

सरदार पूर्णसिंह ने भी माधवप्रसाद मिश्र की तरह भावनात्मक निबन्धों की रचना की है। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी था और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भावना आपके निबन्धों की विशेषता है। आपके निकट सभ्य आचरण, प्रेम और श्रम का आत्यन्तक महत्त्व था। इसी का उपदेश आप देते रहे। आपके निबन्धों की शैली मूर्त्त-चित्रों का विधान करते हुए आगे बढ़ती है और पाठक पर गहरा प्रभाव डालती है। उनके लेख बहुत कम परिमाण में उपलब्ध हैं, इनमें से 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता' अधिक लोकप्रिय हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक भिन्न कोटि के निबन्धकार थे। शुद्ध आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त आपने मनोविकार-सम्बन्धी अनेकों निबन्ध लिखे हैं, जैसे 'चिन्ता', 'श्रद्धा', 'करुणा', 'क्रोध' आदि। इन व्याख्यात्मक निबन्धों में भी उन्होंने व्यंग-विनोद के छींटे बिखेरे हैं और अनेक स्थानों पर संस्मरणात्मक संकेत भी दिये हैं। इन निबन्धों में एक स्वतन्त्र चिन्तन और भावुक हृदय के समन्वित योग से प्रतिपाद्य विषय में इतनी गम्भीर सार्थकता और उदात्त भावना आ गई है कि पाठक को नई उपलब्धि होती है। इस प्रकार शुक्लजी ने विवेचनात्मक गद्य-शैली को एक नया ही रूप-संस्कार दिया।

हिन्दी मे प्रभाववादी आलोचको मे *शान्तिप्रिय द्विवेदी* प्रमुख हैं। इनके आलोचनात्मक लेख आलोचना कम और निबन्ध अधिक होते हैं। इनका स्वच्छन्द और संवेदनशील हृदय साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा में नही रमता, बल्कि एक भावक की तरह साहित्य से प्रभाव ग्रहण करता है। एक कोमल हृदय से निःसृत मानववाद की झलक इनके निबन्धों मे भी मिलती है।

छायावाद के प्रमुख कवियों *प्रसाद, निराला, पन्त* और *महादेवी* ने भी आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की है। साहित्य-दर्शन की मौलिक विचारधारा उपस्थित करने के अतिरिक्त, कलात्मक निबन्धों के रूप मे भी उनका महत्त्व है। छायावाद की स्वच्छन्दतावादी मनोभूमि से लिखे इन निबन्धो मे वैयक्तिक असन्तोष और विद्रोह का स्वर रह-रहकर सुनाई देता है—विशेषकर निराला के निबन्धो मे।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के आलोचनात्मक लेखो के अतिरिक्त उनके वैयक्तिक निबन्ध 'कुछ' तथा 'और कुछ' नाम से प्रकाशित संग्रहों मे मिलते हैं। इन निबन्धो मे चरित्र-चित्रण की विधि अपनाकर नाटकीय और रोचक शैली मे साहित्य, धर्म, जीवन और समाज के प्रश्नों पर बख्शी जी ने आत्मीय ढंग से विचार किया है। आपकी शैली पर अंग्रेजी लेखक गार्डिनर तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव है।

सियारामशरण गुप्त का व्यक्तित्व जितना सरल और सात्विक है उनके निबन्धों मे भी उतनी ही सरलता और एक सात्विक भावुकता और चिन्तन प्रकट होता है। उन पर गान्धीवाद का गहरा प्रभाव है जिससे वे अपने निबन्धों में दिखावटी शिष्टाचार और सामाजिक आडम्बरो पर व्यंग्य तो करते हैं, किन्तु उसमे तीखापन न होकर सरस विनोद और आत्मीय सहानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। आपका 'झूठ-सच' नाम का निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के पश्चात् साहित्यिक निबन्ध के क्षेत्र में *आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी* की प्रतिभा अद्वितीय है। गुलेरीजी-जैसी ही विद्वत्ता और ऐतिहासिक चेतना 'द्विवेदीजी को भी सहज प्राप्त है। साथ ही एक

सरल कवि-हृदय भी है जिससे उनके निबन्धों में एक व्यापक चेतना और उदात्त मानववादी स्वर मिलता है। उन्होंने साहित्य, समाज, संस्कृति, ज्योतिष, आदि विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे हैं जो 'कल्पलता' और 'अशोक के फूल' संग्रहों में छपे हैं। 'आम फिर बौर गए', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', आदि विषयों पर लिखते समय वे रस-विह्वल होकर अतीत में डुबकियाँ लगाते है और भारतीय जीवन की मानव-वादी परम्परा से मोती निकालकर, सामन्ती वर्ग-समाज की सीपियों को उतारकर फेकते हैं। द्विवेदीजी के निबन्धों का अपनी अतिशय आत्मीयता, शैली की सरस गम्भीरता तथा उदात्त मानववाद के कारण हिन्दी-साहित्य में शीर्ष स्थान है।

जैनेन्द्रकुमार अपने ढंग के एक ही निबन्धकार है। आपके अधिकांश निबन्ध दार्शनिक कोटि के है किन्तु कुछ निबन्ध ऐसे भी है जिनमें वे एक दार्शनिक की ऊँचाई से नहीं, बल्कि सहज मानवीय स्तर पर पाठक से आमने-सामने बैठकर प्रश्नोत्तर की शैली में बातचीत करते है। आपकी शैली की विशेषता यह है कि आत्मीय और खुले दिल से आप गम्भीर नैतिक, सामाजिक प्रश्न उठाकर उतने ही आत्मीय और खुले ढंग से श्रोता को बहस में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं, और इस प्रकार वाद-प्रतिवाद के माध्यम से समस्या का उद्घाटन-विवेचन करते हुए उसे समाधान की ओर ले जाते हैं। व्यंग और संकेत का सहारा देकर आप समस्या को सदा नैतिक धरातल पर उठा देते है, नैतिक समाधान ही खोजते है। 'बाजार-दर्शन', 'आप क्या करते हैं', 'कहानी नहीं' आदि ऐसी ही उच्च-कोटि के निबन्ध है।

पुराने लेखकों में द्विवेदीजी के समय से ही निबन्ध-लेखन की दो और प्रवृत्तियाँ चली आती हैं—एक गद्य-काव्यात्मक निबन्धों की और दूसरी संस्मरणात्मक निबन्धों की।

गद्य-काव्यात्मक निबन्धों को भावात्मक निबन्ध भी कहा जाता है। यों तो भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट ने भी भावात्मक निबन्ध लिखे थे, किन्तु

उनमें शैली की अलंकारिता ही प्रधान थी। किन्तु रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० रघुवीरसिंह तथा अनेक नये लेखकों ने भी लघुकाय गद्य-काव्यात्मक निबन्ध लिखे हैं। *रायकृष्णदास वियोगी हरि* और *चतुरसेन शास्त्री* के गद्य-काव्य प्रतीकात्मक हैं। उनमें भाषा-शैली की नवीनता तो है ही, भावोच्छ्वास और सूक्ष्म व्यंजना भी है। किन्तु *माखनलाल चतुर्वेदी* की भावनात्मक रचनाएँ आध्यात्मिक प्रेम तथा राष्ट्रीयता के रंग में रँगी है। *डॉ० रघुवीरसिंह* के दो संग्रह 'बिखरे फूल' और 'शेष स्मृतियाँ' हैं। इनके गद्य-गीतों की शैली औरों से भिन्न है। उनमें भावनाओं की दुरूहता नहीं। 'शेष स्मृतियाँ' तो इसलिए भी उल्लेखनीय है, क्योंकि इसके गद्य-काव्यों में मुग़ल-राज्यवंश के उत्थान-पतन के ऐतिहासिक इतवृत्त का मानवीय तथा कलात्मक अंकन है।

संस्मरणात्मक निबन्धों की परम्परा स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा और बाबू गुलाबराय ने चलाई। इनके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, ब्रजमोहन वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', महादेवी वर्मा आदि ने अनेक सुन्दर संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे।

बाबू गुलाबराय के संस्मरणात्मक निबन्ध 'मेरी असफलताएँ' पुस्तक में संग्रहीत हैं। इसमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के संस्मरणों को इस प्रकार संजोया है कि पूरा संग्रह व्यंग-विनोदमयी शैली में उनका अपना क्रमबद्ध आत्मचरित्र बन जाता है।

श्री महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' उनके सहज, करुणा-सुलभ नारी-हृदय का प्रतिबिम्ब हैं। इनमें उन्होंने, समाज के पीड़ित, उपेक्षित, अभावग्रस्त व्यक्तियों के अत्यन्त मार्मिक संस्मरणात्मक चित्र दिये हैं। उनकी शैली में काव्य की संवेदनशीलता और चित्रोपमता है। ये संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी-साहित्य में अनूठे हैं।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि ने वर्णनात्मक निबन्धों द्वारा अपनी यात्राओं के विवरण प्रस्तुत किये हैं और श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कौशल्यायन

आदि ने अपने-अपने ढंग के सुन्दर निबन्ध लिखे है। श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन के 'जो न भूल सका', 'जो लिखना पड़ा', 'रेल का टिकट' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी ('माटी की मूरते', 'गेहूँ और गुलाब'), उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के रेखा-चित्र भी निबन्धों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' तथा 'कुट्टिचातन' के निबन्ध भी नई शैली का नमूना रखते है।

हिन्दी-निबन्धों के इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि हमारे निबंधकार अनेक दिशाओं से, अनेक प्रवृत्तियों और मनोभूमियों को लेकर निबंध-रचना कर रहे हैं, और अपने जीवनानुभव को पाठको तक प्रेषित करने के लिए अनेक शैलियाँ और माध्यम अपना रहे हैं। किन्तु फिर भी समग्र रूप से देखने पर यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी के अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा निबन्धों का पर्याप्त विकास हो चुका है।

७

हिन्दी आलोचना

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक, चेतन प्रेरणाओं से अपना अन्तःसंस्कार करते हुए आधुनिक हिन्दी-साहित्य की विशिष्ट विकास-स्थितियों के सामानान्तर हिन्दी-आलोचना ने भी प्रगति की है; इन विकास-स्थितियो के अनुरूप ही हिन्दी-आलोचना मे भी नई-नई उद्भावनाएँ होती रही हैं और साहित्य को नई स्फूर्ति, गति और दिशा देने मे योग या बाधा देती आई है। साधारण विद्यार्थी के लिए भी यह सर्वथा अनुमेय होना चाहिए कि 'आलोचना' यदि साहित्य या कला की होती है तो पहले साहित्य या कला का इतना विकास और निर्माण हो जाना चाहिए कि वह आलोच्य हो सके।

व्यापक अर्थों मे आलोचना मनुष्य की आत्म-चेतना है—साहित्य और कला के रूप मे निर्माण की हुई अपनी अर्थवान् 'रचना' के सुन्दर-असुन्दर शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य पक्षो के प्रति जाग्रत हुई चेतना है। इसके परिणाम-स्वरूप ही मूल्य-निरूपण के मानदण्ड और सिद्धान्त बनते है। ये मानदण्ड और सिद्धान्त बदलते जाते हैं, जिस प्रकार देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियो से व्यापक प्रभाव ग्रहण करके साहित्य और कला की प्रवृत्तियाँ बदलती जाती हैं और इस प्रकार समग्र अन्तर्बाह्य जीवन के सत्य या वास्तविकता का मूर्त्त छवियो की भाषा मे युगानुकूल आकलन करती जाती हैं। किन्तु एक बार जब आलोचना का जन्म हो जाता है तो वह साहित्य-कला की केवल तटस्थ व्याख्याता या निरपेक्ष द्रष्टा ही नही बनी रहती। सांस्कृतिक परम्परा और मनुष्य के अर्जित ज्ञान का समाहार करके और वर्तमान की ऐतिहासिक चेतना लेकर संवेदनशील, युग-द्रष्टा आलोचक प्राचीन और सामयिक साहित्य की

कृतियों का मूल्य आँकते हुए नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना भी करता है, जिससे आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों से पूरे सौन्दर्य मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्यकारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमान्त खोल देती है। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियंत्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा भी देती है। इस प्रकार आलोचना स्वयं एक रचनात्मक क्रिया है। परन्तु अपने विकृत रूप में आलोचना साहित्य और कला की प्रगति में बाधक भी बन सकती है, जिस प्रकार साहित्य या कला की प्रवृत्तियाँ विकारग्रस्त होकर जीवन के विकृत चित्र उपस्थित करने लगती हैं और पाठक या द्रष्टा की मानसीय संवेदना और चेतना को कुण्ठित करके जीवन के मूल्यों को सस्ता और निम्नकोटि का बना देती है। साहित्य और आलोचना अपने विशिष्ट क्षेत्र में इसी क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध में विकास करते हैं।

साहित्यालोचन की एक समृद्ध भारतीय परम्परा है। भरतमुनि के समय से साहित्य-शास्त्र का निर्माण होता आया है। अनेक आचार्यों के दीर्घ-कालीन प्रयत्नों से क्रमशः रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति और ध्वनि के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। किन्तु जब हिन्दी-आलोचना का विकास हुआ उस समय संस्कृत काव्य-शास्त्र की यह महान् परम्परा विकृत हो चुकी थी। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी से ही यह विकृति शुरू हो गई थी और मध्ययुग के ह्रासकालीन दरबारों के वातावरण में पली आलोचना की रीति-परम्परा रस के उपकरणों को लेकर नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन और ऋतु-वर्णन में ही सीमित हो गई। दरबारी रीतिकाव्य के साथ-साथ सामान्य जनता में बहुत पहले से सन्त कवियों द्वारा प्रवाहित भक्ति-काव्य की धारा भी चलती आ रही थी, परन्तु वह भी दरबारी संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न थी, भक्ति-काव्य में भी आध्यात्मिक नायक-

नायिकाओं का भेद प्रकट हो चुका था। रीतिकालीन आलोचना वामन और मम्मट के व्यापक सिद्धान्तों और अभिप्रायों को त्यागकर केवल रूपवादी हो गई थी, और काव्य में नियमानुसार विभावो-अनुभावो की योजना, सञ्चारी-व्यभिचारी भावो का रीतिबद्ध निरूपण और अलंकार-प्रदर्शन ही मुख्य था। आचार्य केशवदास ने अलंकारो पर जोर दिया और काव्य-रचना की इन रीति-पद्धतियो के व्यापक प्रचलन के फलस्वरूप कवि सुघर शब्द-योजना और उक्ति-चमत्कार की ओर मुड़े। परन्तु इससे अधिक आगे बढ़कर साहित्य के मूल्य आँकने की कोई दृष्टि इस पद्धति ने नहीं दी। जब आचार्य द्विवेदी के काल मे हिन्दी मे आलोचना की परम्परा का सूत्रपात हुआ, उस समय हिन्दी-आलोचकों को प्रचलित परम्परा के रूप मे रस-अलंकार के गुण-दोष दिखाकर विवेच्य रचना को अच्छी या बुरी सिद्ध करने वाली रीतिवादी पद्धति विरासत में मिली।

आचार्य द्विवेदी से पूर्व यो तो भारतेन्दु के समय मे ही अनूदित पुस्तकों की समीक्षाएँ[1] पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित होने लगी थी, किन्तु हिन्दी आलोचना की अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात द्विवेदीजी के समय से ही शुरू होता है। आचार्य द्विवेदी मूलतः एक शिक्षक, संशोधक और सुधारक थे। भाषा का परिमार्जन करके उसका रूप स्थिर करने के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक उत्थान और देश-प्रेम के साहित्य को भी प्रेरणा दी और एक नया काव्यादर्श सामने रखा। द्विवेदीजी ने रीति-काव्य की परम्परा के स्थान पर तुलसी-सूर भक्ति-काव्य की परम्परा को अधिक श्रेष्ठ और अनुकरणीय माना। एक ओर यदि वे कालिदास और भवभूति के प्रशंसक थे तो दूसरी ओर भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त का भी आदर करते थे। इस काव्यादर्श का आधार उनकी आदर्शवादी भावना थी. परन्तु उनकी आलोचना-शैली

---

१. उदाहरण के लिए बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की पत्रिका 'आनन्दकादम्बिनी' में बालकृष्ण भट्ट ने श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' की कड़ी आलोचना की थी।

पर गुण-दोष विवेचन वाली पुरानी पद्धति का पूरा प्रभाव था। 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक में उन्होंने गुण-दोष दिखाने वाली शैली में ही कालिदास की मूल रचनाओं में से भाषा और व्याकरण के दोषों का संग्रह किया है। उनकी अन्य समीक्षा-पुस्तकें 'विक्रमाकदेव-चरितचर्चा' और 'नैषध-चरितचर्चा' हैं, जिनमें प्रशंसात्मक शैली में कविताओं का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त अपने लेखों और टिप्पणियों में उन्होंने साहित्य की नई प्रवृत्तियों और पुस्तकों की खरी, भावमय आलोचनाएँ लिखीं।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का इतिवृत्त (मिश्रबन्धु विनोद) समाप्त करके 'हिन्दी नवरत्न' नाम से एक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा, जिसमें उन्होंने 'देव' को सबसे बड़ा कवि सिद्ध किया। मिश्रबन्धुओं ने किंचित हेर-फेर के साथ साहित्य के रीतिकालीन प्रतिमानों का ही प्रयोग किया था। देव और बिहारी, या सूर और तुलसी की तुलना करते हुए उन्होंने बिहारी और सूर में दोष-ही-दोष ढूँढ़ने चाहे और किसी शब्द या उक्ति के आधार पर ही उन्हें कोसा।

'बिहारी' पर किये गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर *पद्मसिंह शर्मा* ने, जो संस्कृत, उर्दू, फारसी के परम विद्वान् और काव्य के रसज्ञ थे, बिहारी पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में बड़ी बारीकी से एक-एक शब्द और पद की अर्थ-व्यंजना का उद्घाटन करते हुए उन्होंने बिहारी के दोहों की तुलना उनके जैसे ही हिन्दी और संस्कृत कवियों से की। उनका ढंग अनूठा, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण है। इसका परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक आलोचना की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ा, साथ ही नये छायावादी कवियों ने अपने भाषा-प्रयोगों को और माँजने की ओर ध्यान दिया।

पद्मसिंह शर्मा की आलोचना से हिन्दी में 'देव और बिहारी' का झगड़ा खड़ा हो गया। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखकर दोनों कवियों की कविताओं की तुलना संयत तथा मार्मिक विवेचन द्वारा की, पर कहीं-कहीं बिहारी पर भद्दे आक्षेप भी किये। इसके उत्तर में लाला भगवान-दीन ने 'बिहारी और देव' लिखी और मिश्रजी के आक्षेपों का उत्तर देते

हुए बिहारी को बड़ा सिद्ध किया।

शुक्लजी के आलोचना-क्षेत्र मे अवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना की प्रवृत्ति ही चलती रही, जिसने वास्तव मे न कोई नया काव्यादर्श सामने रखा और न मूल्यांकन का ऐसा सिद्धान्त ही, जिससे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी के रूप मे विकसित होने वाले नये हिन्दी-साहित्य की रचनाओ और प्रवृत्तियो का मूल्याकन हो सकता। तुलनात्मक आलोचना रीति-पद्धति पर आधारित थी। ऐसी आलोचना अधिकतर पूर्व-ग्रह और लेखक की रुचि पर ही निर्भर करती है। लेखक का पक्षपात जिस कवि के साथ होता था उसे ही उठाया जाता था, और दूसरे को गिराया जाता था। आलोचक का ध्यान केवल रूप-विन्यास की सुघरता-कुरूपता पर रहता था, विषय-वस्तु पर नहीं।

आचार्य शुक्ल हिन्दी के युगद्रष्टा आलोचक हुए है। मिश्रजी या शर्मा जी की तुलनात्मक आलोचना को आपने प्रारम्भ से ही अग्राह्य माना। द्विवेदी जी की आलोचना मे सामाजिक उत्थान मे सहायता देने वाले साहित्य को महत्त्व देने की जो प्रवृत्ति थी, शुक्लजी स्वभावतः उसके अधिक समीप थे। उन्होने सामाजिक पृष्ठभूमि मे रखकर कवियों और उनकी कृतियो तथा साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियो को परखा और हिन्दी-आलोचना का अभिनव ढंग से विकास किया। उनका समीक्षादर्श आज चाहे पूरी तरह मान्य न हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उन्होने अपनी मौलिक प्रतिभा से सैद्धान्तिक समीक्षा के हर पहलू का गम्भीरतम विवेचन किया है और अपनी नई-नई उद्भावनाओ द्वारा हिन्दी-आलोचना को नई दृष्टि और अर्थ-गौरव दिया है। शुक्ल जी के दो सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं—'काव्यात्मक लोकवाद' का सिद्धान्त और 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त। काव्यात्मक लोकवाद के सिद्धान्त का आधार यह है कि काव्य मे भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष नही हो सकती, सामान्य लोक-भूमि पर ही काव्य की भाव-सत्ता स्थापित होती है, अतः कोरी वैयक्तिक अनुभूति का साहित्य में कोई मूल्य नहीं। 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त मे उन्होने प्रतिपादित किया कि काव्य-

वस्तु या विषय-चित्रण के अनुसार साधारणीकरण भी कई भूमियों पर होता है। जो सत् है या सत् का प्रतीक है उसके चित्रण में पाठक या श्रोता की चित्तवृत्ति सहज ही रमती है, रसानुभव करती है, किन्तु असत् के चित्रण में मनुष्य की वृत्ति या तो रमती ही नहीं या आंशिक रूप से ही रमती है, इसलिए रसानुभव अंशतः ही सम्भव होता है। इस उपपत्ति में उनके नीतिवादी दृष्टिकोण की पूरी झलक है।

शुक्लजी का दृष्टिकोण नीतिवादी था। वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था और अवतारवाद में उनकी पूरी आस्था थी। नीतिवादी दृष्टिकोण से ही कृष्ण के बजाय राम उनके आदर्श थे। इसका प्रभाव उनकी साहित्य-समीक्षा पर भी पड़ा। सूर से उन्होंने तुलसी को बड़ा कवि माना; कबीर और दूसरे निर्गुण-पंथी कवियों की सराहना करने में संकोच दिखाया। प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ कहा। शुक्लजी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में उनकी वैयक्तिक रुचि के कारण और भी अनेक त्रुटियाँ हैं। प्रकृति-वर्णन के समर्थक होते हुए भी उन्होंने प्रकृति के स्थायी वर्ण्य विषयों और वर्णन-प्रकारों का विवेचन करके एक विशेष ढंग के प्रकृति-वर्णन को ही श्रेष्ठ बताया है। नई काव्य-शैलियों का भी वे समर्थन न कर सके, अर्थात् छायावाद को राष्ट्रीय-जागरण द्वारा प्रेरित समत्व की भावना, और नये पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों के प्रति व्यक्ति के असन्तोष और प्रतिवाद की व्यंजना के रूप में वे न देख सके। वस्तु और शैली, भाव-पक्ष और अभिव्यंजना-पक्ष इन दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध को भी वे न देख सके। वस्तुतः उन्होंने प्रतिपादित किया कि दोनों प्रक्रियाएँ आत्यन्तिक रूप से पृथक् हैं।

परन्तु इन सीमाओं के होते हुए भी शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को जो दिया वह स्थायी मूल्य का है। उन्होंने साहित्य के सभी अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन करके एक अपने में सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र का निर्माण किया। साथ ही उन्होंने तुलसी की सर्वथा मौलिक ढंग से व्याख्या की, सूर और जायसी के विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किये, तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास

एक नये ढंग से लिखा।[1]

बाबू श्यामसुन्दरदास और *पदुमलाल पन्नालाल बख्शी* शुक्लजी के ही समकालीन हैं। इन दोनों समालोचकों ने एक वैज्ञानिक की तरह पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन करके काव्य और साहित्य के विविध अंग-उपांगों की व्याख्या की, या विश्व-साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की। बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी पुस्तक 'साहित्यालोचन'[2] में साहित्य-सिद्धान्तों का और बख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' में विश्व-साहित्य, मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर विवेचन किया। ये दोनों पुस्तकें यद्यपि पूर्णतः मौलिक न थीं, फिर भी उन्होंने, विशेषकर पहली पुस्तक ने, विद्यार्थियों को वैज्ञानिक ढंग से साहित्य और कला की प्रकृति समझने में सहायता दी।

शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति को अपनाकर चलने वाले आलोचकों की संख्या पर्याप्त है। उनमें से अधिकांश ने शुक्लजी के दृष्टिकोण के नीतिवादी और व्यावहारिक पक्ष को तो न्यूनाधिक मात्रा में त्याग दिया है, किन्तु इसके स्थान पर किसी वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का सम्यक् विकास नहीं किया, जिससे उनकी आलोचना-दृष्टि केवल साहित्य के भाव-पक्ष तक ही सीमित होकर रसवादी या शुद्ध-शास्त्रीय हो गई। वे साहित्य के व्यापक सामाजिक प्रयोजनों और मानव-मूल्यों से विशेष सरोकार नहीं रखते, यद्यपि उनके विरोधी नहीं हैं। इस प्रवृत्ति के आलोचकों में *पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र*, *कृष्णशंकर शुक्ल*, *रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'*, *चन्द्रवली पाण्डेय* और *रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'* हैं। *बाबू गुलाबराय* भी शुक्लजी के अनुयायियों में ही परिगणित किये जाते हैं, यद्यपि उनके दृष्टिकोण में अपेक्षाकृत सामाजिक

---

१. शुक्लजी द्वारा लिखे मुख्य आलोचनात्मक ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास, (२) तुलसी, (३) सूर, (४) जायसी ग्रन्थावली, (५) चिन्तामणि—दो भाग।

२. बाबू श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' भी श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

तत्त्व भी मिलते हैं।

शुक्लजी ने अपने नीतिवादी दृष्टिकोण और व्यक्तिगत रुचियों के कारण प्राचीन काव्य-शास्त्र के जिन सिद्धान्तों की वैयक्तिक व्याख्या की थी और साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक पक्ष पर अत्यधिक जोर देकर उसमें जो असंतुलन ला दिया था, अर्थात् व्यवहार-पक्ष के सामने भाव-पक्ष गौण पड़ गया था, और पाश्चात्य समीक्षकों के सिद्धान्तों का अपनी रुचि के अनुसार उपयोग करके निर्गुणपंथी सन्तों के रहस्यवाद तथा साहित्य की नई प्रवृत्तियों के प्रति अनुदारता दिखाकर दृष्टि की एकांगिता का जो परिचय दिया था—इन सब अभावों को दूर करके साहित्य-शास्त्र को पूर्णता देने के उद्देश्य से कई समालोचक आगे बढ़े। इनमें *आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी*[1], *पं० नन्ददुलारे वाजपेयी*[2] *डा० रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० सत्येन्द्र* तथा *लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', शान्तिप्रिय द्विवेदी, जानकी वल्लभ शास्त्री* आदि प्रमुख हैं। इन विद्वान आलोचकों में साहित्यालोचन की कोई एक ही प्रवृत्ति नहीं पाई जाती और न वे सब समान रूप से ही शुक्लजी द्वारा उठाई साहित्य-शास्त्र की समस्याओं पर सर्वांग विचार करते हैं। अधिकतर सभी शुक्लजी द्वारा निर्देशित अथवा उपेक्षित एक-एक विषय को लेकर हिन्दी के साहित्य-शास्त्र की संपूर्ति में लगे हैं। इनमें *आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी* और *पं० नन्ददुलारे वाजपेयी* की आलोचना-दृष्टि अपेक्षया अधिक व्यापक और उदार है। दोनों स्वतन्त्र विचारक हैं। वे साहित्य को व्यापक और सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं और उनमें शुक्लजी का पूर्वग्रह भी नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण मूलतः

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—(१) हिन्दी-साहित्य की भूमिका, (२) कबीर, (३) नाथ सम्प्रदाय, (४) विचार और वितर्क, (५) हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के निम्न आलोचना-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) जयशंकरप्रसाद, (२) हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी, (३) आधुनिक-साहित्य।

मानववादी है और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का शास्त्रीय तथा सौन्दर्यवादी। अलग-अलग दृष्टियों से दोनों हिन्दी के वर्तमान समालोचकों मे सर्वश्रेष्ठ हैं। दोनों ही भिन्न-भिन्न दिशाओं से साहित्यालोचन की नई धारा 'प्रगतिवाद' के न्यूनाधिक समीप आते हैं, उसे अपनी सहानुभूति देते हैं, और साहित्य-कला-सम्बन्धी उसकी मूल स्थापनाओं को सही मानते है। किन्तु अभी तक दोनों मे से किसी ने विस्तारपूर्वक अपने-अपने सम्न्वित दृष्टिकोण से शुक्लजी के अभावों की पूर्ति करने वाले सम्पूर्ण समीक्षा-शास्त्र की रचना नहीं की। नये समीक्षकों मे डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक काव्य की काफी साफ-सुथरी समीक्षा की है।

डा० नगेन्द्र पर फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-शास्त्र का भी प्रभाव है, और वे अपनी शास्त्रीय आलोचनाओं मे उसका उपयोग भी करते है। डॉ० सत्येन्द्र अपने उदार सामाजिक दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवाद की अनेक मान्यताओं को अपनाते हैं और शान्तिप्रिय द्विवेदा छायावाद के भाव-सौन्दर्य के अपने ढंग के व्याख्याता होने के कारण आलोचना की प्रभाववादी प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी कुछ शिक्षोपयोगी समीक्षाएँ लिखी हैं।

हिन्दी आलोचना की यह शास्त्रीय धारा गम्भीर मन्थर गति से साहित्य के प्राचीन और आधुनिक साहित्य के सभी अंगो को शास्त्रीय ढंग से परखती, समेटती, सहेजती आचार्य शुक्ल के नेतृत्व मे और उनके बाद छोटी-बड़ी धाराओं में बँटकर बढ़ती रही। किन्तु इसी बीच, शुक्लजी के समय मे ही, सन् १९३६–३७ के लगभग द्वितीय महायुद्ध के आसन्न संकट, युद्धोद्धत फासिज्म के संस्कृत-विरोध दृष्टिकोण, असहयोग आन्दोलन की असफलता और जनता के विक्षोभ, छायावाद की कविता मे नये प्राण-संचार का अभाव, महादेवी और बच्चन के गीतो के निराशावादी उद्‌गार और जीवन की व्यापक समस्याओं के प्रति हिन्दी आलोचना की उदासीनता—इन सबने मिलकर जहाँ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन मे गतिरोध और वैषम्य पैदा कर दिया, वहाँ प्रबुद्ध विचारकों मे इस गतिरोध

को तोड़कर नया मार्ग निकालने के लिए एक नई चेतना भी जगाई। पहले *शिवदानसिंह चौहान* ने अपने आलोचनात्मक निबन्धों में प्रगतिवाद की व्याख्या की, फिर *प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, नेमिचन्द जैन, अमृतराय, शमशेरबहादुर सिंह* आदि 'प्रगतिवाद' के और अनेक आलोचक आगे आये। प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को न अपनाकर हिन्दी आलोचना के सम्मुख साहित्य और समाज के सम्बन्ध या प्रश्न उठाकर साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न उठाया; छायावाद की नई दृष्टि से व्याख्या करके छायावादी काव्य में मार्मिकता से व्यक्त हुए प्रतिवाद और असंतोष के स्वर को पहचाना और सामाजिक जीवन से साहित्य और साहित्यकार के विलगाव का कारण स्पष्ट करके प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा साहित्य को जीवन के निकट आने की प्रेरणा दी। इस समय प्रेमचन्द, पन्त, निराला आदि हिन्दी के शीर्ष स्थानीय लेखक प्रगतिशील आन्दोलन में सम्मिलित हुए और पन्त, निराला ने नये दृष्टिकोण से काव्य-रचना शुरू की। ऐसा लगा कि छायावाद की भूमिका समाप्त होने से रचनात्मक साहित्य की धारा अभावग्रस्त न हो जायगी। किन्तु कुछ वर्षों के अन्दर ही प्रगतिवादी आलोचना कुछ दिनों के लिए संकीर्ण मतवाद की दिशा में पथभ्रष्ट हो गई। अब फिर प्रगतिवादी आलोचना अपने मूल सिद्धान्तों की ओर लौट रही है और अपने व्यापक सांस्कृतिक दायित्व को सँभालने की ओर कदम बढ़ा रही है। प्रगतिवाद की विचारधारा का हिन्दी-आलोचना और आलोचकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि रसानुभूति कराने के साथ-साथ साहित्य का व्यापक सामाजिक प्रयोजन भी होता है और साहित्य का कार्य जीवन के वस्तु-सत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। *डा० देवराज* और दूसरे अनेक स्वतन्त्रचेता आलोचक गम्भीर चिन्तन-मनन के द्वारा मन के शंका-सन्देहों से लड़ते हुए इस वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहे हैं।

जिस राजनीतिक-सांस्कृतिक गतिरोध और विघटन की एक ओर समाजोन्मुखी आशामूलक प्रतिक्रिया हिन्दी-आलोचना में 'प्रगतिवाद' की

मानववादी विचारधारा के रूप में प्रतिफलित हुई, उसकी व्यक्ति-मुखी, मूलतः कुण्ठामूलक प्रतिक्रिया हिन्दी-आलोचना में 'मनोविश्लेषणात्मक' विचारधारा को लेकर आगे बढ़ी। यह विचारधारा फ्रॉयड के मनोविश्लेषण शास्त्र से प्रभावित है, तथा अपनी आलोचनात्मक स्थापनाओं में टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड, सार्त्र आदि पाश्चात्य आलोचकों का अनुगमन करती है। *इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय* और एक सीमा तक *नलिन विलोचन शर्मा* आदि मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के प्रमुख लेखक हैं। इन लेखकों की दृष्टि में व्यक्ति-मानस के अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करना ही कला का साध्य और प्रयोजन है। साहित्यालोचन के व्यापक प्रतिमानों की आवश्यकता से भी यह विचारधारा इन्कार करती है, क्योंकि इनके अनुसार प्रत्येक पाठक, श्रोता या आलोचक पूर्वग्रही होता है। अतः मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-पद्धति अपनी निरर्थकता स्वयं ही विज्ञापित करती है।

हिन्दी-आलोचना का विकास इन शास्त्रीय पद्धतियों और नई विचार-धाराओं के माध्यम से ही हुआ है।